'बहती गंगा' में काशी

(एम. फ़िल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

2004

शोध-निर्देशक

प्रो. मैनेजर पाण्डेय

शोधार्थी

वंदना चौबे

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2004

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Centre of Indian languages

Date : 13/05/04

DECLARATION

I declare that the material in this dissertation entitled **"BEHTI GANGA MEIN KASHI"** submitted by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

वंदना चौबे
VANDANA CHOUBEY
RESEARCH SCHOLAR

PROF. MANAGER PANDEY
SUPERVISOR
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. NASEER AHMAD KHAN
CHAIRPERSON
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

विषय-सूची

पृ. संख्या

पूर्विका (i - iii)

प्रथम अध्याय 1-20

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' : एक परिचय

- शिव के प्रसाद
- न ऊधो का लेना न माधो का देना
- 'बहती गंगा' के भगीरथ
- 'अंन्दाज़-ए-बयां' और
- समय चला चली का

द्वितीय अध्याय 21-48

इतिहास के आलोक में काशी

- प्राचीन काशी
- मध्यकालीन काशी
- आधुनिक काशी

तृतीय अध्याय 49-72

'बहती गंगा' में काशी का जनजीवन

- कथा, कहानी, बानी, जुबानी और काशी की कहानी
- संत, असंत घोघा बसंत
- उच्च वर्ग का ढोंग और मध्यवर्ग का पोंग

चतुर्थ अध्याय 73-87

'बहती गंगा' का स्वरूप

...अंतिका 88-90

ग्रंथानुक्रमणिका 91-97

पूर्विका

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की 'बहती गंगा' बहुत महत्वपूर्ण कृति होकर भी अब तक आलोचकों द्वारा उपेक्षित रही है। कहीं-कहीं आंचलिक या ऐतिहासिक उपन्यासों के क्रम में इसकी चर्चा ज़रूर मिल जाती है लेकिन वह चलताऊ टिप्पणी और ख़ानापूर्ति भर ही है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने जब मुझे इस अछूते विषय पर काम करने के लिए सुझाया, तो सचमुच बहुत प्रसन्नता हुई, लेकिन प्रो. साहब ने मुझे पहले ही चेता दिया कि इस विषय पर पहले काम नहीं हुआ है इसलिए 'पोथी' की तरह एक जगह कुछ भी सामग्री मिलना कठिन है। इसका एहसास मुझे शोध के दौरान बराबर होता रहा।

कई बार पढ़ने के दौरान 'बहती गंगा' का विस्तृत फ़लक पर्तों में खुलता गया और इस तरह यह कई मायनों में मुझे और भी महत्वपूर्ण लगी। दरअसल रुद्र जी के यहां काशी रांड़, सांड़, सीढ़ी और सन्यासियों के आलावा भी बहुत कुछ है। यहां बनारस की ख़ूबियां-ख़ामियां पूरी बेबाकी के साथ कही गई हैं।

जो काशी कभी हिंदी साहित्य की 'कैम्ब्रिज मानी जाती थी, उसी काशी में खेमेबंदी, मोर्चेबंदी और गुटबाज़ी का जो दौर आया उसका ख़ामियाज़ा आज की पीढ़ी भी भुगत रही है। कौन यकीन करेगा कि इसी बनारस में कभी रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, मुक्तिबोध और त्रिलोचन एक साथ एक घर में रहते थे। नागरी प्रचारिणी सभा और काशी हिंदू विश्वविद्यालय में जिस तरह के खेमे बने और गंदी राजनीति खेली गई उससे दुखी होकर रुद्र जी ने मृत्यु पूर्व कहा था—"सभा में ले जाकर मेरे शव को तमाशा न बनाया जाय।" तब से लेकर अब तक 'सभा' की स्थिति जगजाहिर है।

ऐतिहासिकता, आंचलिकता और सामाजिकता को मिलाकर उसे रचनात्मक रूप देकर रुद्र ने इस उपन्यास को आज के संदर्भ से जोड़ा है और कई मायनों में प्रासंगिक बना दिया है उपन्यास को 'बहती गंगा' शीर्षक देना ही उसे कई अर्थों में खोलना है।

साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा आज भी रुद्र नाम से अपरिचित है इसलिए पहले अध्याय में मैंने लघु शोध सीमा के तहत रुद्र जी का पूरा परिचय दिया है। रुद्र काशिकेय

का व्यक्तित्व उनके कृतित्व से भिन्न नहीं है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में बनारस दृश्य और अदृश्य रूप में मिलता है।

'बहती गंगा' 1750 से 1950 तक की काशी का रचनात्मक इतिहास है। 'इतिहास' अपने आप में बहुत विस्तृत शब्द है। इस इतिहास को एक अध्याय में बांधना मेरे लिए मुश्किल था फिर सहूलियत के शोध का दूसरा अध्याय काशी के संक्षिप्त इतिहास से संबंधित है। इस अध्याय को लिखने में मुझे बहुत से महत्वपूर्ण तथ्यों को बेरहमी से अलग करना पड़ा। आख़िर कहीं न कहीं अपनी सीमा तय करनी ही थी।

तीसरा अध्याय चूंकि उपन्यास से सीधा तआल्लुक रखता है इसलिए ज़्यादा भटकाव को छोड़कर मैंने 'बहती गंगा' को ही केन्द्र में रखा है। अकड़बाज़ी, कड़ियलपन, बेलौसियत और चुहलपन के बावजूद काशीवासियों में एक तरह की मुलायमियत है। 'बहती गंगा' की कहानियों में यह मुलायमियत बिना किसी रंग-रोगन के आई है। प्रेम और दीवानगी इन कहानियों की नब्ज़ है और बेशक इनके पात्रों की भी। ये कहानियां काशी की असल तस्वीरें हैं।

प्रयोगशीलता रुद्र जी की 'कमज़ोरी' रही है। उनके परिवारजनों और संबंधित अन्य विद्वानों से अंतरंग बातचीत के दौरान और उनकी कुछ पूरी-अधूरी कृतियों को देखने के बाद मुझे लगा कि उन्होंने हमेशा कुछ अलग करने की कोशिश की है। प्रयोग के रूप में 'बहती गंगा' 1952 की महत्वपूर्ण कृतियों में से एक है। 'मैला आंचल' के माध्यम से रेणु ने जिस नायक का निष्कासन किया था, वह निष्कासन रुद्र ने 1952 में ही कर दिया था। इन चारों अध्यायों के माध्यम से मैंने रुद्र जी के लगभग सभी इलाक़ों में दखल किया है।

चूंकि काशी की संस्कृति, परम्परा और इतिहास किसी परिचय का मोहताज नहीं, इसलिए इस विषय पर लिखना मेरे लिए हिमाक़त की बात थी। ख़ैर, ये हिमाक़त मैंने की और 'बहती गंगा' के ज़रिए काशी की ही नहीं अपनी बात भी कही। काशी मेरा जुड़ाव-लगाव बचपन से है। इस अपनापे को शब्दों के माध्यम से कहना मेरे लिए अटपटा था बार-बार मुझे ऐसा लगता रहा कि काशी को जितना पकड़ने की कोशिश करती हूं वह उतनी ही छूटती जाती है, फिर भी मैंने 'देखो मेरी कासी' के नज़रिए से ही नहीं बल्कि 'देखी तुमरी कासी' के नज़रिए से भी काशी को देखने की कोशिश की है।

मेरे गाइड प्रो. मैनेजर पाण्डेय के सहयोग और मार्गदर्शन के बिना मैं इस लघु शोध के होने की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। इस लघु शोध में जो कुछ कमियां हैं वह मेरी हैं और जो कुछ अच्छा और सार्थक बन पड़ा है उसके मूल में प्रो. साहब का निर्देशन ही है। मैं ख़ासतौर पर उनकी आभारी हूं।

साहित्य की मेरी बुनियादी समझ बनारस में ही बनी। इस समझ को विकसित करने में काशी हिंदू विश्वविद्यालय और विशेष रूप से मेरे शिक्षक डॉ. अवधेश नारायण मिश्र की बहुत बड़ी भूमिका है। शोध के दौरान विभिन्न मौकों पर मुझे उनका पूरा-पूरा सहयोग मिला। मैं हृदय से उनकी आभारी हूं।

सहपाठी अरविंद के सहयोग के बिना यह लघु-शोध लिखना कठिन होता। उसके साथ हुए बहस-मुबाहिसों से मेरी कई बातें स्पष्ट हुईं। मित्रों के लिए 'धन्यवाद' या 'शुक्रिया' औपचारिकता मात्र है फिर भी मैं अरविंद की शुक्रगुज़ार हूं।

इस विषय पर बहुत कम और छिटपुट सामग्री ही मिल पाई। इस सामग्री का बहुत बड़ा हिस्सा मुझे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से मिला (धूल-धक्कड़ों के बीच ही सही)। पुस्तकालय के कर्मचारियों को मैं धन्यवाद देती हूं। जया जी ने जिस तन्मयता और तत्परता के साथ इस लघु शोध को शब्दसंयोजन किया, इसके लिए वह प्रशंसनीय हैं।

अपने पिता श्री मंगला प्रसाद चौबे मां श्रीमती उमा चौबे, श्वसुर श्री दयानंद पाण्डेय और सासु मां श्रीमती लीलावती पाण्डेय के स्नेह से मैं उऋण नहीं हो पाऊंगी। इनके आशीर्वाद और स्नेह से मेरे हताश मन को सदैव ऊर्जा और उत्साह मिलता रहा। सहोदर महीपाल और विवेक के प्यार को कैसे भूल सकूंगी। इनके प्रोत्साहन से मुझे हमेशा ताक़त मिली है।

अंत में साथी राजेश के प्रेम और नेह के बिना यह लघु-शोध प्रबंध पूरा नहीं हो सकता था पर इस स्नेह के लिए 'आभार' शब्द बहुत छोटा है।

वंदना चौबे
206, ताप्ती छात्रावास
जे. एन. यू.
नई दिल्ली

प्रथम अध्याय

शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र' : एक परिचय

- शिव के प्रसाद
- 'न ऊधो का लेना ना माधो का देना'
- 'बहती गंगा' के भगीरथ
- 'अंदाज़-ए-बयां और'
- समय चला-चली का

शिव के प्रसाद–'पूत के पाँव पालने में'–नाल उठाने, लट्ठ बजाने, भंग-बूटी छानने वाले और चारों पहर घड़ियाल की तरह गंगा में डूबे रहकर घाट की मढ़ी पर घंटों मालिश करवाने वाले तीर्थ पुरोहित वर्ग में जन्में 'गुरु बनारसी' अर्थात् अधूरे उपन्यासों का पूरा नायक 'शिव प्रसाद मिश्र' का अंग्रेज़ी-फ़ारसी पढ़ना, किताबों में मगज़ मारना और कविता करना बड़ा ही परंपरा विपरीत काम था। हम-आप इन्हें 'रुद्र जी' के रूप में जानते हैं। 'शिव' और 'रुद्र' दोनों रूपों में पगा है इनका व्यक्तित्व, जिसके दो पहलू हैं–'परम आशुतोष' और 'परम रूद्र'। साहित्य में और साहित्यकार में से 'निख़ालिस बनारसी' होने में कहीं से भी, कोई भी अंश काढ़ दिया जाय तो बेलाग कहा जा सकता है कि वह रूद्र नहीं है। 'गुरु बनारसी' अर्थात् गुरुता न केवल व्यक्तित्व की बल्कि साहित्य की भी, जिसमें वही टटकापन है, जो बनारस की ख़ासियत है। इस रूप में रूद्र कबीर, तेगअली[1] और भारतेंदु की परम्परा में हैं, जो बनारस की 'टिपिकल' उपज थे; 'शस्त्रेण शास्त्रेण चा' दोनों तरह से जो चाहे भिड़ा ले। तेगअली के बाद अगर किसी ने उर्दू की कमनीयता बनारसी बोली से पैदा की तो रूद्र ने। कहां बनारस की अक्खड़ बोली और कहां शेरों की नज़ाकत-नफ़ासत और तहज़ीब। यह प्रयोग बेमिसाल है।

रुद्र जी का जन्म काशी के प्रतिष्ठित प्रधान तीर्थ-पुरोहित पं. महावीर प्रसाद मिश्र के यहां 27 सितम्बर 1911 को हुआ। महावीर महाराज भदोही तहसील के मौजा चकचंदा ग्राम बरुका के प्रसिद्ध ब्राह्मण पुरोहित प. रामअवतार जी मिश्र के पुत्र थे। 'महाराज महावीर' के नाम से जाने जाने वाले पं. महावीर प्रसाद मिश्र धार्मिक प्रवृत्ति वाले और बुद्धिजीवी व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने जीवन काल में 'हिंदू महासभा' और 'वर्णाश्रम स्वराज संघ' जैसी संस्थाओं में काम किया और 'तीर्थेश महासभा' की स्थापना की। तब काशी अपने 'गुण्डों', पण्डों और लठैतों के लिए प्रसिद्ध थी। तीर्थ पुरोहितों की 'गुंडई' और मरने-मारने वाला रूप आज भी बनारस के लोकगीतों में रचा-बसा है, जिसे 'संघर्ष' फ़िल्म में फ़िल्माया भी गया है। महावीर महाराज स्वयं तो दुबले और ठिगने दीखते थे लेकिन बला का जीवट था उनमें, यहां तक कि उनके एक इशारे पर दर्जनों

---

1. *बनारसी बोली (काशिका) के प्रसिद्ध कवि*

लाठियां तन जाती थीं, फिर भी वह प्रचलित तीर्थ पुराहितों में अपवाद थे। सुप्रसिद्ध तीर्थ 'काशी करवट' में भंडेरियों द्वारा यात्रियों का उत्पीड़न समाप्त करने और तीर्थ सुधार आंदोलन का बीड़ा महाराज ने उठा रखा था, जिसके चलते कई बार उन्हें अपने विरोधियों से लाठी भी बजानी पड़ी।

माता सुमित्रा देवी गृहणी थी। महावीर महाराज और सुमित्रा देवी की एकमात्र संतान होने के कारण रुद्र जी शिव के प्रसाद या शिव के अंश माने जाते थे अतः माता-पिता ने इन्हें 'शिवप्रसाद' नाम दिया। आगे चलकर 'उग्र' जी ने इन्हें 'रुद्र' नाम दिया, जो इनका साहित्यिक नाम बना। महाराज ने अपने पुत्र का पालन पोषण इस तरह से किया था जो किसी तीर्थ पुरोहित के यहां असंभव नहीं तो, दुष्कर अवश्य था। बारह वर्ष की आयु में इनका विवाह श्रीमती चंद्रदेवी से हुआ और तभी से रुद्र जी काव्य रचना की ओर धीरे-धीरे प्रवृत्त हुए।

रुद्र जी की प्रथम शिक्षा हरिश्चंद्र कॉलेज में हुई। बाद में क्वींस कॉलेज में और उसके बाद उन्होंने स्नातकोत्तर की शिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय से प्राप्त की। टीचिंग उनका रुचिकर विषय था अतः आगे चलकर उन्होंने टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज से बी. टी. भी किया। परिवार जन कहते हैं कि बचपन में जब वह घने रेशमी लंबे बालों को लहराकर सफेद धोती कुर्ता पहनकर और तेल पिलाई लाठी लेकर चलते थे, तो ऐसा लगता था जैसे 'सुमित्रा नंदन पंत' और 'चंदगी राम' को एकमेक कर दिया गया हो।

गठी हुई दुहरी स्थूल देह, उन्नत ललाट, जमुनिया रंग, अद्धी या तंजेब का झक्क सफ़ेद कुर्ता, सूती सफ़ेद सदरी और मुंह में बराबर दो-चार पान, जिसके कारण कभी-कभी मुंह उचकाकर बात करने का खांटी बनारसी तरीक़ा। यही रुद्र जी का वेष था। और हां! हाथ में डंडा, वह इसलिए, क्योंकि कभी-कभी इसका खुलकर प्रयोग भी करना पड़ता था और उस पर भी गहरे बाज़[1] पर ही बाहर निकलना। निवास भी काशी विश्वनाथ की देहरी पर और विचार से भी शिव जैसे औधड़दानी।

वाराणसी के साहित्य में रुद्र जी वह देन थे जो एक साथ कवि, उपन्यासकार,

---

1. *एक प्रकार का बनारसी तांगा या इक्का*

नाट्यकार, गीतकार, व्यंग्यकार, पत्रकार और चित्रकार भी थे। हिंदी के अतिरिक्त उन्हें संस्कृत, पालि, अंग्रेज़ी, मराठी, गुज़राती, तेलुगु, बंगला, अरबी-फ़ारसी, उर्दू और फ्रैंच भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। काशिका से उन्हें अत्यधिक लगाव था और काशिका की नगरी से भी।

सन् 1938 में रुद्र जी बनारस के सिटी बेसिक स्कूल में प्राध्यापक नियुक्त हुए और बाद में 1943 में स्कूल निरीक्षक के पद पर मिर्ज़ापुर में नियुक्त हुए लेकिन स्वभाव से अलमस्त इनका मन यहां रमा ही नहीं अतः इन्होंने त्यागपत्र देकर आदर्श सेवा, सनातन धर्म और दयानंद महाविद्यालय जैसी संस्थाओं में अपेक्षाकृत बहुत कम वेतन पर काम किया। 'आज', 'संसार', 'भारत', 'बनारस' और 'सन्मार्ग' से उनका काफ़ी जुड़ाव था, इन पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी इन्होंने किया। दरअसल खोजी और स्वच्छंद स्वभाव के रुद्र जी किसी एक बहर में बंधकर नहीं रह सकते थे, जिसका कारण शायद उनका बनारसी घड़ियाली स्वभाव और बहुत कुछ बहुमुखी प्रतिभा थी। विभिन्न साहित्य मंडलों में जाना उन्हें विशेष प्रिय था। रत्नाकर-रसिक-मंडल, दीन सुकवि मंडल, लाला भगवान दीन साहित्य मंडल, विक्रम परिषद्, नागरी प्रचारिणी सभा, भोजपुरी संसद तथा शनिवार गोष्ठी से उनका जुड़ाव-लगाव आजीवन रहा। सन्मार्ग के बाद वह काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। अपने अंतिम समय तक रुद्र जी 'नागरी प्रचारिणी सभा' के प्रधानमंत्री पद पर भी रहे।

न उधो का लेना न माधो का देनाः–

उठने के बाद देर तक बिस्तर पर बिछे रहना, सोच-विचार के बाद नित्यक्रिया का 'मूड' बनाना, फिर अध्यापन के लिए चल देना और लौटकर भांग के दो बेढब गोले छानकर जिज्ञासु विद्यार्थियों की ज्ञान-पिपासा शांत करना और कुछ पढ़ लिखकर ही उठना उनका दैनिक कर्म था–चाहे काशी में रहें या दिल्ली में। गेहूं जब रुपए का बीस सेर था, तब भी यही जीवन-क्रम रहा और जब बीस रुपए का एक सेर हुआ तब भी यही रहा।

"पढ़ने-पढ़ाने के शौकीन रुद्र अध्ययन-व्यसनी थे। कारमाइकल लाइब्रेरी की अंग्रेजी, बंगला, हिंदी और उर्दू की बहुत कम पुस्तकें होंगी, जिसे वे बाँच न गए हों, साथ

ही ग्रंथ समाप्त होने के बाद उसका सत्व और सारगर्भित बातें इस तरह आत्मस्थ कर लेते थे कि वर्षों बाद भी कभी कोई ऐसा प्रसंग आ जाय तो उसे सप्रमाण प्रस्तुत कर देते थे।"[1] एक सफल अध्यापक के रूप में रुद्र आज भी उदाहरण हैं। वह भले और उनके छात्र भले। उनकी इस दुनिया में कोई अज़ीज भी प्रवेश कर जाय वह तुरंत ही उसे अपने रंग में रंग लेते और आने वाला वक्ता नहीं श्रोता बनकर रह जाता था। रुद्र जी का मानना था कि विश्वविद्यालय में पढ़ाना उनके लिए 'विद्यादान' नहीं हैं अतः उनके घर पर ही पूरा विद्यालय लगता था। सौ-सवा सौ विद्यार्थियों का जमघट लगता, जिसमें सभी तरह के लोग होते। यह विद्यालय निःशुल्क था। रुद्र जी अपने विद्यार्थियों को 'उपार्जित संपत्ति' और 'यशः शरीर' कहते थे। इस रूप में वह सौ फ़ीसदी अध्यापक थे। विश्वविद्यालय के बाद शेष बचा समय वह अपने इन्हीं शिष्यों के साथ बिताते थे और शिष्य भी गुरु के प्रति एकदम निष्ठावान। न अध्यापक ने कुछ दिया न ही शिष्यों ने कुछ लिया। सब कुछ एकमेक हो गया। जैसे 'न ऊधो न लिया न माधो ने दिया।'

'बहती गंगा' के भगीरथः–

रुद्र जी अपनी जन्म भूमि काशी के प्रति अत्यधिक निष्ठावान थे और उनकी यह निष्ठा उनकी पहली अनुपम कृति 'बहती गंगा' में प्रकट होती हैं। कई विद्वानों ने जहां इसे उपन्यास माना है वहीं कई विद्वान इसे कहानी संग्रह भी मानते हैं–'बहती गंगा' का प्रसंग उठाने के पहले रुद्र जी को पूरी-अधूरी अप्रकाशित-प्रकाशित सभी रचनाओं को एक क्रम में देखना प्रासंगिक होगा :–

प्रकाशित रचनाएं

- भाषा की शिक्षा (सीताराम चतुर्वेदी के साथ प्रणीत)
- कालिदास नाटक (सीताराम चतुर्वेदी के साथ प्रणीत)
- बहती गंगा (उपन्यास)
- सुचिताच (उपन्यास)
- ग़ज़लिका (हिंदी ग़ज़ल संग्रह)
- ताल-तलैया (गीत)

---

1. *आ. सीताराम चतुर्वेदी–"स्वर्गीय शिवप्रसाद 'रुद्र" सर्वांगीणा रूप', नागरी प्रचारिणी पत्रिका–सुधाकर पांडेय, वर्ष-4, अंक-3, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, पृ.-10*

- तुलसीदास (गीत)
- परीक्षा पचीसी (हास्य-व्यंग्य गीत)
- अलबम (हास्य-व्यंग्य गीत)

अप्रकाशित रचनाएं

- सन्यासी शंकर (नाटक)
- दशाश्वमेघ (नाटक)
- विजयसेना (नाटक)
- रक्तरोचना (नाटक)

भाष्यात्मक रचनाएँ

- चीन की चेतावनी
- तेगअली और काशिका

नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित

- रास और रासान्वयी काव्य
- छिताई वार्ता
- नाथ सिद्धों की बानियां
- हकायदे हिंदी
- सत्य हरिश्चंद्र
- हिंदी साहित्य का वृहत्त इतिहास (दसवें खंड का संपादन)
- भारतेंदु ग्रंथावली (भारतेंदु के नाटक संग्रहों का संपादन)

अधूरी रचनाएँ

- रामबोला रामबोले (तुलसीदास पर आधारित उपन्यास)
- मृण्मानव महेश (उपन्यास)
- कीर्तिलता (व्याख्या)

अधूरे उपन्यासें का पूरा नायक कहे जाने वाले रुद्र उन कतिपय लोगों में से थे, जिन्हें काशी के जीवित इतिहास की विशेष जानकारी थी। बल्कि वह बनारस के पिछले कुछ वर्षों के इतिहास के चलते-फिरते संदर्भ-ग्रंथ थे और इस अद्‌भुत इतिहास ज्ञान का प्रयोग भी उन्होंने साहित्य के परिप्रेक्ष्य में बख़ूबी किया। उनकी लगभग सभी रचनाओं पर

बनारस के कुछ वास्तविक और कुछ काल्पनिक चरित्रों का गहरा असर है और ऐसे ही चरित्रों से भरी पड़ी है 'बहती गंगा'। अपने में सिमटकर केवल वाराणसी में रहने की इच्छा थी रुद्र जी की, लेकिन इस अकेली कृति ने उन्हें साहित्य के पोर-पोर में फैला दिया।

वस्तुतः 'बहती गंगा' है उपन्यास ही, लेकिन किस तरह का उपन्यास? डा. सत्यपाल चुघ इसे पहला आंचलिक उपन्यास मानते हैं, लेकिन आंचलिकता का क्षेत्र ही बिल्कुल दूसरा है। यह न तो 'आंचलिकता' में फिट होती है और न ही 'ऐतिहासिकता' में। पूरे उपन्यास में मानवीय और सामाजिक-संबंधों का एक अलग ही रूख़ मिलता है। इस रूप में इसे हम सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यास कह सकते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह क़ीमती ऐतिहासिक दस्तावेज़ भी है तो अत्युक्ति नहीं होगी। पूरे काशी को प्रदर्शित कर उघाड़ देने वाली इस कृति में सत्रह तरंगे ही सत्रह कहानियां हैं, जो मिलकर उपन्यास के रूप में तब्दील हो जाती हैं, इसलिए अपने में यह एक नया प्रयोग है। रुद्र जी की कृतियां जहां एक ओर विशिष्ट शैली के कारण सुरुचिपूर्ण एवं मनोरंजक हैं वहीं दूसरी ओर उनमें सामाजिक-आर्थिक तनाव और मानव-हृदय की विकृतियों का मार्मिक उद्‌घाटन भी मिलता है—यह अर्थाभाव ही तो है जिसमें पिसती 'गंगो' दीपावली पर उड़द का बड़ा खाना चाहती है और दिन भर प्रयास के बाद भी उसकी इच्छा पूरी नहीं हो पाती—वह विक्षिप्त-सी अपने पति से कहती है—"राशन की गठरी उसके (पति के) हाथ से छीनकर ज़मीन पर पटकती और आंचल पसारकर रोती हुई वह बोली—"बोलो! मैंने तुमसे कब कहा था कि मैं उर्द का बड़ा खाऊंगी?"[1] धर्मशील चतुर्वेदी लिखते हैं—"कथा की भाषा बेजोड़, चरित्रांकन कलमतोड़ और शिल्प एक मोड़ हैं। इन्हीं विशेषताओं ने इस अकेली कृति को इतना समादर दिया है।"[2]

"हो सकता है रुद्र काशिकेय ने 'कबीर वाणी' से ही जानी हो भाषा की ताकत।"

और इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हैं प्रसिद्ध कथाकार काशीनाथ सिंह —"कथाकार काशीनाथ सिंह के दिल और दिमाग़ को शिवप्रसाद मिश्र उर्फ रुद्र काशिकेय की 'बहती

---

1. *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', 'बहती गंगा', राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1999, नई दिल्ली, पृ.-132*
2. *धर्मशील चतुर्वेदी—'बहती गंगा के भगीरथ', नागरी पत्रिका, 'रुद्र स्मृति अंक-3, वर्ष-4, सुधाकर पांडेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.-32*

गंगा' की खनकती, रौंदती, गरियाती और पुचकारती भाषा का सौंदर्य–बोध बार-बार मथता रहा हो।"[1]

रुद्र जी का दूसरा उपन्यास है 'सुचिताच' जिसका शीर्षक ही प्रयोगात्मक है। उपन्यास में चार नायिकाएं हैं–

- सुचित्रा – सु
- चित्रा – चि
- तारा – ता
- चंद्रा – च

चारों को मिलाकर कुल जोड़ बनता है 'सुचिताच'। उपन्यास का नायक है 'सुमंत'। नायक अपने अन्तर्विरोधों में जकड़ा हुआ इन चार नायिकाओं के इर्द-गिर्द भटकता है लेकिन कहीं भी उसे मनःशांति नहीं मिलती। 'सुचिताच' में संकलित 'रेलिया सवतिया पिया को लिए जाय' में एक नव विवाहिता के वैधव्य का प्रौढ़ और मार्मिक चित्रण है, जिसका पति फैक्टरी की मशीन से कटकर मर जाता है, लेकिन सुहागन है कि पति को मृत मानने से इंकार कर देती है और जब-जब किसी गाड़ी की आवाज़ सुनती है, चीख़ने लगती है–"रेलिया सवतिया पिया को लिए जाय"
इसी तरह 'ऐहि अंगना एहि डेहरी' भी मानवीय सम्बन्धों से जुड़ी कहानी है।

'सुचिताच' विक्रम परिषद् द्वारा प्रकाशित हुआ और आगे चलकर सफलतापूर्वक मंचित भी हुआ। नाटक के सभी पात्र उस समय के विशिष्ट व्यक्ति थे–मसलन-आ. सीताराम चतुर्वेदी, रुद्र काशिकेय, बेढब बनारसी (कृष्णदेव प्रसाद गौड़), त्रिलोचन पंत, धर्मशील चतुर्वेदी, कमलिनी नेहता और चंद्रा मलकानी (बहू जी)।

'रामबोला रामबोले' में तुलसी के जीवनवृत्त को औपन्यासिक रूप में प्रस्तुत करना सर्वथा अभिनव प्रयास था जो रुद्र जी का तीसरा उपन्यास है। दुर्भाग्यवश उनकी यह कृति अधूरी रह गई, जो 'मानस-ममूख' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित होती थी।

---

2. *धर्मशील चतुर्वेदी–'बहती गंगा के भगीरथ', नागरी पत्रिका, 'रुद्र स्मृति अंक-3, वर्ष-4, सुधाकर पांडेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.-32*

लगता है 'मानस का हंस' में नागर जी को कच्चा माल यहीं मिला है। नागर जी रुद्र जी के मित्रों और शिष्यों में एक थे। 'रामबोला रामबोले' का कल्पना, यथार्थ और बेहद नाटकीयता ने इसे और भी रुचिकर और उपादेय बना दिया है। जिस तरह तुलसी अपनी राम कहानी सुनाते समय टोडरमल की चुटकी भी लेते रहते हैं—यह भाषा का ही चमत्कार है—

"अच्छा अच्छा ठाकुर, ठकुरसुहाती रहने दो'—तुलसीदास ने हंसकर कहा और फिर अपनी खंडित कहानी को सूत्र जोड़ने लगे। 'सुनो अब कहने में कोई हानि नहीं है। मैं तो नब्बे के फेर में पड़ ही चुका हूं। अगले साल सैकड़े का पेटा है।"

टोडर ने बात काटते हुए कहा—"बाबाजी, उसके बाद फिर इकाई है।"

'नहीं भैया, उसके बाद जीवित रहना शुद्ध बेहयाई है। अच्छा कहानी सुनो। यह बात मैंने इसलिए कही कि तुम भी साठा पार करके सत्तर की कोठी में आ गए हो।"[1]

उपन्यास में विभिन्न बोलियों का समन्वय उसे और भी अलग कर देता है। यही नहीं तुलसी के कुछ अलग रूप भी यहां छिटपुट मिलते हैं—

"तुलसी कुछ देर तक अस्सी की ओर खड़े देखते रहे, फिर सहसा उन्हें अपने सारे शरीर में सिहरन-सी मालूम हुई। उनके पैर लड़खड़ाए और वे वहीं भूमि पर बैठते-बैठते एकदम लेट गए। आकाश में अस्त होते हुए चंद्रमा ने देखा कि तालाब में एक हंस सो रहा है और तालाब के तट पर एक परमहंस मूर्च्छित पड़ा है।"[2]

'मृण्मानव महेश' काशी पर आधारित-उपन्यास है। वस्तुतः काशी के इतिहास को उन्होंने रचनात्मक रूप दिया है—"काशी के इतिहास, संस्कृति और समाज से संबंधित जानकारियों के लिए रुद्र जी चलते-फिरते विश्वकोष थे। "कायारूप में रुद्र काशिकेय के न रहने की ख़बर सुनकर पहली कचोट यह लगी कि यह उपन्यास अधूरा ही रह गया। यदि पूरा हो जाता तो हिंदी के पाठकों को निःसंदेह एक श्रेष्ठ उपलब्धि होती। इस

---

1. *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', 'रामबोला रामबोले', 'मानस-मयूख'—रामादास शास्त्री वर्ष-1, प्रथम प्रकाश, हाबड़ा, पृ.-389*
2. *वही, पृ.-40*
3. *अमृतलाल नागर—"रुद्र काशिकेय अधूरे उपन्यासों का पूरा नायक', नागरी पत्रिका—सुधाकर पांडेय, दिस. 1970, वर्ष-4 अंक-3, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.-43*

दुख के अतिरिक्त एक मित्र के न रहने से मन का सूनापन और बढ़ गया।''[3]

आमतौर पर लिखने में आलसी समझे जाने वाले रुद्र चूके नहीं—सही समय पर लेखनी चलाते और कहते—''चलने दो, देखा जाएगा।' बस इसी चलने दो में बनारसी अमराई की सुगंध भरी है। माहौल चाहे जैसा भी रहा हो, उनके सान्निध्य में इस सुगंध से कभी वंचित नहीं रहना पड़ा।

अंदाज़-ए-बंया और

काशीवासी जीवन को किस्तों में नहीं जीता बल्कि एक मुश्त में जीता है। यही मस्ती रुद्र में कूट-कूट कर भरी थी। एक दौर था। जब रुद्र जी के बैठक में बैठकी जमती थी। उसी बैठक में एक दिन प्रेमचंद और उग्र जी साथ रघुनंदन प्रसाद शुक्ल 'अटल' आदि पूरे जमावड़े के साथ आए। रुद्र तो थे नहीं, उनके पिता महावीर महाराज थे। बातों के सिलसिले में ही अचानक उग्र जी ने महावीर महाराज की ओर संकेत करके कहा—''बाबू जी आप के पुत्र को देखकर लगता है, मानो वह नर रूप में शिव ही हों। मेरा नाम तो 'उग्र' है। (प्रेमचंद की ओर संकेत करके कहा) कहिए, यदि उनका नाम 'रुद्र' रहे तो कैसा हो?'' प्रेमचंद ने समर्थन में कहा—''बिल्कुल ठीक। व्यक्ति का व्यक्तित्व देखकर तो यह नाम सर्वथा ठीक है।''

बस, उसी दिन से 'शिव' 'रुद्र' में तब्दील हो गए। चूंकि रुद्र जी पल में ही क्रोध से कांपने लगते थे और पल में ही उनकी आंखों से आंसू झरने लगते थे इसलिए भी उनके नाम में उनके व्यक्तित्व की पूरी छाँह मिलती है।

लगभग 1939-40 की बात है जब वह सीताराम चतुर्वेदी के संपर्क में आए तब उन्हें अचानक अभिनय का चस्का लगा और ऐसा लगा, कि अखिल भारतीय विक्रम

---

1. *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'—'रामबोला रामबोले', 'मानस-मयूख'—रामादास शास्त्री वर्ष-1, प्रथम प्रकाश, हावड़ा पृ.-389*
2. *वही, पृ.-40*
3. *अमृतलाल नागर—''3द्र काशिकेय अधूरे उपन्यासों का पूरा नायक', नागरी पत्रिका-सुधाकर पांडेय, दिस. 1970 वर्ष-4 अंक-3, नागरी प्र. सभा, वाराणसी, पृ.-43'*

परिषद् और अभिनव रंगशाला जैसे रंगमंचों पर वह कई बार अपनी भूमिका में लिप्त हुई। ख़ास तौर से महाकवि कालिदास में 'श्रीधर' की भूमिका में उन्होंने डूबकर काम किया था। अव्यवसायिक अभिनेता के रूप में तो उन्होंने अनेक नाटकों में काम किया है। चूंकि ऐतिहासिक वृत्तों का उन्हें अच्छा ज्ञान था अतः अपने लिखे हुए नाटकों को भी उन्होंने विविध ऐतिहासिक चरित्रों से समृद्ध किया इसीलिए उनकी रचनाओं ने प्रभावशाली चरित्रों की भरमार है। उनके रचित नाटकों में खलनायक सहनायक और विदूषकों का चरित्रांकन बड़ी कुशलता से हुआ है। 'महाकवि कालिदास नाटक' की कथावस्तु बड़ी ठोस और सुगठित है। कथावस्तु में वही पुरानी कथा है जिसमें कालिदास की मूर्खता और फिर विद्योत्तमा जैसी विदुषी से उनका विवाह वाली घटना है, लेकिन कथावस्तु के निर्माण में कुशलता है। नाटक अनेक अंकों, दृश्यों एवं भागों में बंटा हुआ है। प्रायः अनेक भागों और दृश्यों में बंटे नाटकों में दृश्यों का विधान नाट्यप्रयोक्ता के लिए समस्या बन जाते हैं लेकिन इस नाटक की रचनाकुशलता यह है कि परदे के उठने और गिरने से ही दृश्य परिवर्तन हो जाता है और कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि दर्शक किसी ऐतिहासिक नाटक या महाकवि कालिदास के जीवनवृत्त पर आधारित नाटक देख रहा है। वाराणसी, लखनऊ, बॉम्बे जहां भी यह नाटक खेला गया, दर्शकों ने पूरी तरह इसका रस लिया। भाषा भी सहज, सरल और जनप्रिय है। रुद्र जी अपने नाटकों में संवाद के लिए जाने जाते हैं। संवादों की भाषा 'महाकवि कालिदास' में मंजी हुई और एकदम शुद्ध है जबकि रुद्र जी उर्दू शब्दों और मुहाविरों के बिना कुछ नहीं लिखते थे। उर्दू शब्दों की प्रधानता उनकी सभी रचनाओं में मिलती है। नाटक में कहीं तो राजभवन का दृश्य है और कहीं विद्योत्तमा का दुमंज़िला आवास। सज्जा इतनी भव्य कि दर्शक स्वप्न लोक में विचरने लगता है। संवादों में नाटकीयता और घातप्रतिघात्मकता ने इसे बेजोड़ बना दिया।

उनके नाटकों की सबसे बड़ी ख़ासियत उनका अभिनेय होना है—"किसी भी दृष्टि

से रुद्र जी के नाटकों को हिंदी के किसी भी नाटककार के समकक्ष रखा जा सकता है। सबसे प्रमुख बात है कि उनके सभी नाटक अभिनेय हैं। यह सौभाग्य हिंदी के नए-पुराने नाटककारों में से कम ही को मिला है। हिंदी के वे नाटककार जिनके नाटक अभिनय है, उंगलियों पर गिने जा सकते हैं।"[1]

'महाकवि कालिदास' के बाद 'दशाश्वमेध' नाटक टीचर्स-ट्रेनिंग कॉलेज के अभिनव रंगशाला में खेले जाने की तैयारी की गई लेकिन मंचन के पहले भीड़-भाड़ और अव्यवस्था हो जाने के कारण यह नाटक नहीं खेला गया। एकमात्र 'कालिदास' नाटक सभी प्रसिद्ध रंगमंचों पर खेला गया। 'पृथ्वी थियेटर्स' के मंच पर इस नाटक में बेढब बनारसी, रुद्र और बेधड़क बनारसी जैसे लोगों ने अभिनय कौशल दिखाया। यह नाटक रंगमंच इतिहास में अप्रतिम रहा।

यही नहीं जब काशी में प्रथम नाटक की शताब्दी मनाई जा रही थी तो सौ वर्ष पुराने नाचधर (बनारस थियेटर्स) (जहां शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकी मंगल' खेला गया और जिसमें भारतेंदु ने लक्षमण का अभिनय किया था) में रुद्र जी ने अध्यक्ष पद से जो सारगर्भित और विद्वतापूर्ण भाषण दिया था इससे उनके कुशल नाट्यमर्मज्ञ और नाट्य समालोचक होने का भी उदाहरण मिलता है। जब प्रसाद के नाटकों को अनभिनेय कहकर उनके महत्व को नकारा जा रहा था उस समय काशी हिंदू विश्वविद्यालय के लक्ष्मीकांत झा, गणेशदत्त, आ. टंडन और रुद्र जी ने 'एक्सलेसियर थियेटर्स' नीची बाग़ में अपने अभिनय कौशल से चंद्रगुप्त नाटक को जीवित कर दिया। दर्शक के रूप में प्रसाद जी भी इस समूह में शामिल थे।

आ. सीताराम चतुर्वेदी के अधिकांश नाटकों में रुद्र जी ने अभिनय किया। कुछ की भूमिका तो अविस्मरणीय मानी जाती है जैसे—'महाकविकालदास' में 'श्रीधर',

---

1. *कुमारशील, 'रुद्र जी अभिनेता भी थे नाटककार भी', नागरी पत्रिका—रुद्र-स्मृति अंक-3, वर्ष-4-सुधाकर पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.-55*

'चंद्रगुप्त' में 'आंभीक', 'कृष्ण जन्म' में 'कंस' और 'लखनऊ का पतन' में 'वाजिद अली शाह।'

इसके अतिरिक्त नाग जाति को अपना विषय बनाकर उन्होंने 'सन्यासी शंकर' नाटक लिखा। नाग जाति के प्रतापी राजा भारशिव ने दशाश्वमेघ पर दस अश्वमेघ यज्ञ कराए थे। इसे ही नाटक में रुचिकर बनाकर प्रस्तुत किया गया है। लगभग सभी नाटक उन्होंने ऐतिहासिक भावभूमि पर ही लिखे।

'भारतेंदु ग्रंथावली' की भूमिका नाट्य साहित्य की एक सारगर्भित पुस्तिका कही जा सकती है। जिसका संपादन रुद्र ने किया। इसी क्रम में 'नागरी पत्रिका' के रंगमंच शती के अवसर पर 1968 में नाट्य संबंधी लेख छपा। रुद्र जी की लगभग तीस-पैंतीस एकांकी भी हैं लेकिन वह संग्रह रूप में नहीं है। कहीं-कहीं कुछ छिट-पुट रूप में वह मिल जाती है। नागरी प्रचारिणी सभा को अव्यवसायिक रूप से उनकी कृतियों को प्रकाशित कराना चाहिए। यह उनकी सभा की निःस्वार्थ सेवाओं का उचित पुरस्कार होगा, लेकिन सभा का हाल यह है, कि वह खुद में ही उलझी हुई है।

भारतेन्दु ने अपने जीवन का अंतिम संवाद नाटक की लक्षणा में बोला था—"हमारे जीवन नाटक का प्रोग्राम नित्य नया-नया छप रहा है, पहिले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खांसी की सीन हो चुकी है। देखें लास्ट नाइट कब होती है।

ऐसा लगता है रुद्र जी ने भी अपना अंतिम लेख 'नटराज नगर के नट, नाटक और कलाकार' लिखकर यह सिद्ध किया है कि नाटकों से उनका अलग किस्म का जुड़ाव था। असल में उनके नाटकों को सही मूल्यांकन की आवश्यकता है। यदि उन्हें प्रकाश में लाया जाय तो निश्चित ही उनकी प्रतिष्ठा हिंदी के सशक्त नाटककारों में होगी।

संगीत और शायरी का शौक रुद्र का पुराना था, किंतु ग़ालिब की तरह ही उनका अंदाज़-ए-बयां भिन्न था। अक्सर जब वह अकेले होते तो 'ग़ालिब' और 'मीर' की ग़ज़लें सस्वर गाते थे। दैनिक पत्रों में जब वह 'छींटे' लिखा करते थे तो अपने व्यंग्य में उर्दू-फ़ारसी के शेरों का लटका देकर उसे और चुटीला बना देते थे, वह ऐसे कि घायल

तिलमिलाने के पहले ही दम तोड़ दे। हास्य और व्यंग्य के लिए काशी में तीन-तिलगे हुआ करते थे—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', अन्नपूर्णानंद और रुद्र काशिकेय। बाद में उग्र जी ने तो काशी छोड़ दी लेकिन उनकी शैली की गुदगुदी और भाषा की मार काशीवासियों को भूली नहीं है। 1942 के आसपास बनारस में पंच-महाभूत या पंच-पांडव के रूप में बेढव बनारसी, रुद्र काशिकेय, चोंच बनारसी और भैयाजी बनारसी आए। उस समय विभिन्न आयोजनों में इन्हें साथ ही बुलाया जाता था। रुद्र जी 'बड़े गुरु' के रूप में काशिका में 'पैरोडी' लिखने के लिए जाने जाते थे। इसमें भी उन्होंने प्रसाद की कविताओं पर पैरोडी अधिक लिखी। चोंच जी 'राजहंस' के नाम से गंभीर कविताएं लिखते थे और बेधड़क बनारसी 'भ्रमर' के नाम से लिखते थे। भैया जी बनारसी कवि, कथाकार और पत्रकार के रूप में आए।

रुद्र जी की अन्य चर्चित रचनाओं में 'ग़ज़लिका'। (हिंदी ग़ज़ल संग्रह) एक अलग स्थान बनाती है। दरअसल दुष्यंत कुमार की हिंदी ग़ज़लों में लोग ऐसे लगे, कि भूल गए कि हिंदी साहित्य में हिंदी ग़ज़लों की कमी नहीं है। 'त्रिलोचन शास्त्री के 'गुलाब और बुलबुल' के साथ ही रुद्र जी की 'ग़ज़लिका' भी खड़ी होती है, जिसका मूल्यांकन अपेक्षित है। विशुद्ध हिंदी में और हिंदी की प्रकृति में ग़ज़लों को रुद्र ने जिस रूप में ढाला है वह बिल्कुल नया प्रयोग लगता है। इन ग़ज़लों की रवानगी में उनका अपना जीवन-दर्शन और भरतीय जीवन दर्शन रचा-बसा है और साथ ही भावों की गहराई तो है ही। ऐसा लगता है कि यह रचनाकार के चौथेपन की रचना है, हालांकि रुद्र जी मृत्यु के समय मात्र 58 वर्ष के ही थे। चूंकि नया प्रयोग उनकी कमज़ोरी थी अतः बनारसी बोली के बाद वह ग़ज़ल की ओर मुड़े। इससे उनके उर्दू अदब में गहरी पैठ का भी पता चलता है। 'ग़ज़लिका' में उन्होंने वली, फ़ाइज़ और मुहम्मद कुतुबशाह (1911) से लेकर आधुनिक उर्दू ग़ज़लों पर एक पैनी नज़र डाली है साथ ही उन्होंने हिंदी में भारतेंदु, दीन, प्रसाद और निराला की चर्चा भी की है। रुद्र जी लिखते हैं—"अपनी ग़ज़ल में नैने शमा-परवाना और गुल-ओ बुलबुल को पिष्टपेषण नहीं किया है और न तो उसे कविता कुंज का कसाईखाना बनाया है:—

"चहक से महक भरे 'रुद्र' गुल को।
तनिक गुनगुना कर कलम कर रहा हूं।।'[1]
आगे 'ग़ज़लिका' की एक और बानगी :–
"वे तो आ जाएंगे ही आंख के तर होने तक
हम उधर होंगे मगर, उनके इधर होने तक
पूछते हैं कि बहाओगे कहां तक आँसू
अपना उर है कि बस, मन के सुभर होने तक
'रुद्र' निज दाह से 'ग़ालिब' का कथन याद आया
'शम्अ हर रंग में जलती है सहर होने तक।"

रुद्र जी ब्रज भाषा की कविताओं में 'रुद्र', ग़ज़लों में 'रुद्र काशिकेय' और कुछ कविताओं में 'व्योमकेश शर्मा' भी हुए हैं। व्यंग्य रचना 'भूतनाथ की डायरी' में वह 'भूतनाथ' हुए।

वस्तुतः रुद्र को कवि हृदय प्राप्त था। ब्रज कविता का एक उदाहरण भी प्रासंगिक होगा–

"जननी कर पल्लव में बसिकै,
तब मोद-विनोद घनैरो कियौ।
सिसुता तुमको तजिगौ पै तउ,
नसि द्योस तितै-ति फेरो कियौ।
कहि 'रुद्र' भयो मन मेरो बिहगम,
नेह मैं खूब निहोरौ कियौ।
पुनि जो तन कै बन मैं उड़िकै,
तरुनी तरु पाई बसैरौ कियौ।"

यदि संग्रह करें तो रुद्र के कविताओं की संख्या कम नहीं है। पुराने 'रीतिकाल' से लेकर आधुनिक 'अकविता' तक की विधाओं में उनकी रचनाएं है। खड़ी बोली, सवैया, कवित्त, तुकांत और अतुकांत सभी छंदों की रचनाओं का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। वस्तुतः पहले उन्हें संग्रहीत करना ज़रूरी है। काशिका से उन्हें बेहद लगाव था।

---

1. *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'–'ग़ज़लिका', भोजपुरी संसद*

काशिका में उनके चौथेपन की एक रचना है जो मन रूपी कबूतरी की कविता अर्थात् मन की कविता लगती है–

"चरवा चुगी ऊ कब चोंचवा घुमाय हाय,
अब कब कुकनी क कन-कन कुतरी।
काल्है से उड़ल जौन, आइल न लउट फेर,
आवत तो मन के, गरै बाँध लेई सुतरी।
बाटे ई भरोस पोस, मानी तऽ जरुरै कुछ,
आँखी कऽ हमार रहल अऽ 'गुरु' पुतरी।
बैठल बिहानै सै पुकारथई आव-आव,
देखीं कब उतरी अकास से कबूतरी।"

'देखीं कब' में एक लंबी प्रतीक्षा की झांक मिलती है। इसके अतिरिक्त 'तेगअली' की कविताओं की व्याख्या और संपादन से उनकी तलस्पर्शी दृष्टि का बोध तो होता ही है। यह काशिका ही थी जो उन्हें अपने ज़मीन से जोड़े रखती थी। इतना ही नहीं, 'वासंती' पत्रिका में प्रकाशित (धारावाहिक रूप में) 'गीतगोविंद' का पद्य रूपांतरण तो बड़ा ही सरस है–

"प्रिय का मनोहर, निहार के स्वरूप जब,
जिसके हृदय की खिल, कलित कली गई
तब उस राधिका के मन में कसी जो वह
लाज भी लजाके दूर उससे चली गई।।"

छिट-पुट निबंध, कहानियां, व्यंग्य, गीत और एकांकी भी मिलती है। रुद्र जब मौज में आते या लोग प्रेरित करते तो कुछ लिखते थे और लेखन की चरम परिणति यह होती कि अपने मित्रों, छात्रों को सुना कर स्वयं भी रसविभोर हो उठना। किसी मित्र ने उसी समय कोई रचना हस्तगत करके किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेज दी तब तो वह छप गई, अन्यथा लुप्त हो जाती थी। अलमस्त रुद्र ने न तो रचनाओं की प्रतिलिपि रखी न ही प्रकाशित रचनाओं की 'कटिंग'। जीवन के साथ अपनी रचनाओं के प्रति भी वह सदैव, निद्वंद, निस्पृह और निरासक्त बने रहे।

'कीर्तिलता' विद्यापति रचित ऐसा ग्रंथ है, जिस पर अनेक मूर्धन्य विद्वान टीकाएं लिख चुके हैं फिर भी वह दुरुह और समझ के बाहर बनी हुई है। दरअसल रुद्र जी ने अपनी बीमारी की अवस्था में अपने ऊपर काम का अतिरिक्त बोझ ले लिया था। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री अरविंद मिश्र से इस शोधार्थी से बातचीत के दौरान उनका कहना था कि रुद्र जी बार-बार कहते थे—'सारा समय गंवा दिया' या 'भाई, अब कुछ लिखना है और जमकर लिखना है।'' यहां तक कि डॉक्टरों से भी यही कहते थे ''इतना ठीक कर दो कि अपने ग्रंथ पूरे कर सकूं। जीवन की अब कोई साध बाकी नहीं रह गई है।'' वगैरह। हालांकि उनकी स्थिति बिल्कुल ठीक नहीं थी। 'कीर्तिलता' की व्याख्या रुद्र ने अपने अध्यापन के बल-बूते पर किया। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने 'कीर्तिलता' की व्याख्या, जो रुद्र द्वारा हुई, उसका महत्व मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। उनका मानना है कि 'कीर्तिलता' की व्याख्या पहले पहल अब हुई है। बीमारी की हालत में ही वह जौनपुर गए और 'कीर्तिलता' के कुछ उलझे अंशों को स्पष्ट करने के लिए मुस्लिम इमारतों, मंदिरों, कंगूरों आदि को विशेष 'कोण' से अपने कैमरे में उतारा। हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य रहा कि यह व्याख्या भी अधूरी रह गई।

इसी बीच किसी के आग्रह पर उन्होंने 'बनारस का इतिहास' लिखने की योजना भी बना ली। बस क्या था, नागरी प्रचारिणी, कारमाइकल लाइब्रेरी, गोयनका लाइब्रेरी और काशी हिंदू विश्वविद्यालय से पुस्तकों का अंबार लग गया। नोट भी तैयार हो गया। कुछ लिखना प्रारंभ किया ही था कि किसी सहयोगी ने फिर 'कीर्तिलता' पर ध्यान लगा दिया। परिणामतः इतिहास वैसे का वैसा ही रह गया। व्याख्या में जुट गए और वह पूरी भी हो जाती कि साप्ताहिक 'हिंदुस्तान' के संपादक वाराणसी आए और 'रामबोला रामबोले' को पूर्ण करने का आग्रह कर गए। रुद्र जी को भी अनुरोध भा गया। इसी बीच 'भारतेन्दु नाटकावली' के प्रकाशन कार्य में भी तेज़ी आ गई और घर पर विद्यार्थियों का जमावड़ा भी वैसे ही लगता रहा। अन्ततः अस्वस्थता और समय की कमी के कारण यह सभी ग्रंथ अधूरे रह गए।

अपने चालीस वर्ष के साप्ताहिक जीवन में रुद्र ने आधा दर्जन से अधिक चीज़ें नहीं दी हैं लेकिन जो भी लिखा, उसमें नई ज़मीन तराशी और पुरानी ज़मीन तोड़ी है। खेद की बात यह है कि रुद्र ने इस सफलता को आगे नहीं बढ़ाया। इसका कारण कुछ

तो उनका बनारसी घड़ियाली स्वभाव भी था और कुछ बहुमुखी प्रतिभा थी। बहर में बंधकर रहना उनके स्वभाव के बाहर की चीज़ थी।

समय चला-चली का

ऐसे अलमस्त रुद्र पिछले दो वर्षों से जीवन के प्रति कुछ चिंतित थे। अंतिम दौर की रचनाओं में मृत्यु की चर्चा भी ख़ूब मिलती है लेकिन पहले और अब की मृत्यु में काफ़ी फ़र्क हो गया था। चैत्र पूर्णिमा को काशी की साहित्यिक संस्था 'शनिवार गोष्ठी' ने चैत्र महोत्सव का आयोजन किया था, तब वह आयोजन गंगा के तट पर चाँदनी रात में हुआ करता था, जिसका शुभारंभ रुद्र जी ने ही किया था। अंतिम समय में वहाँ रुद्र ने काशी का ही ज़िक्र किया और भावविभोर होकर अपनी बात कही–

"अब अपना तो भगवद्भजन और चला-चली का समय आ गया है। अपने देश की विशेषतः बनारस की इस रसधारा को सूखने न दें। यह रस न रहा तो जीवन जीने लायक नहीं रह जायेगा।"

अपने अंतिम समय में दरअसल रुद्र जी इसी बनारस से कुछ ख़फा से थे। लोग कहते हैं रुद्र काशी से नाराज़ थे? बोधिसत्व की एक कविता है :–

"अयोध्या में बसकर भी क्यों उदास रहते थे पागलदास" कवि को जवाब मिलता ही नहीं। लोग कहते हैं–

"क्यों उदास हैं आप बनारस में,
बुद्ध कलिपवस्तु में,
कालिदास उज्जयिनी में,
फसलें खेतों में,
पत्तियां खेतों में,
पत्तियां वृक्षों पर,
लोग दिल्ली में, पटना में, दुनिया जहान में
क्यों उदास हैं
आप सिर्फ यही क्यों पूछ रहे हैं
कि अयोध्या में बसकर भी कयों उदास थे पागलदास।"[1]

---

1. बोधिसत्व-'पागलदास', उर्वरप्रदेश–बिंदु अग्रवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1999, पृ.-140

रुद्र लोगों से नाराज़ थे, व्यवस्था से नाराज़ थे यहां तक कि अपनी सभा (नागरी प्रचारिणी) से भी। ऐसा लगता है कि बनारस में रहकर भी उदास थे रुद्र। वस्तुतः "काशी ने अपने विद्वानों और गुरुजनों का आदर करना नहीं सीखा।"[1] वह चाहे डा. नामवर सिंह कों, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी हो चाहे रुद्र जी ही हों। त्रिलोचन शास्त्री के लिए नामवर सिंह ने लिखा है–

"काशी में त्रिलोचन सुखी न थे। कष्ट कम न दिया काशी ने उन्हें। सताया भी। दुत्कारा भी। अन्ततः ठुकराया और भगाया भी। भैरों का सोटा उन्हें भी लगा। अन्ततः। लेकिन उनके मन में जैसे एक और काशी थी। वही उन्हें अपने ज़मीन से जोड़े रही। अपनी परम्परा से जुड़े रहने का अहसास कराती रही।"[2] सच तो यह है कि यह बात खुद नामवर जी के लिए भी उतनी ही सच है और स्वयं रुद्र के लिए भी। कुल के बावजूद रुद्र भी काशी को छोड़ नहीं सकते थे।

"कविता, कुश्ती, भंग, विमल गंग की धार
काशी कबहुं न छोड़िए विश्वनाथ दरबार।।"

1968 में 'बेढब' जी की मृत्यु हुई और इधर रुद्र की भी अस्वस्थता बढ़ने लगी। मृत्यु का हिमानी-सा शीतल अंक-उन्हें कभी अप्रिय नहीं लगा–

"रुद्र हँस उठे मगर मृत्यु की सुंदरता पर
प्राण देने का कभी प्रण न हमारा टूटा।"

अन्ततः उन्हें विश्वविद्यालय के अस्पताल में रखा गया, लेकिन वहां की चिकित्सा-पद्धति और वातावरण उन्हें रुचा नहीं अतः सबकी इच्छा के विरुद्ध वह घर पर ही आ गए। लेकिन स्वास्थ्य बराबर नीचे गिरता गया। बाद में काशी के प्रसिद्ध वैद्य शिवकुमार शास्त्री की चिकित्सा से कुछ फ़ायदा ज़रूर हुआ, लेकिन उस लाम में स्थायित्व नहीं रहा। रुद्र जी की पुत्री हेमज्योत्सना मिश्र ने पिता के अंतिम दिनों की चर्चा कुछ ऐसे की थी–"बेहोश की हालत में जैसे वह परलोक में भी अपना निवासस्थान देखते थे। अक्सर आँखें बंद रहती और वह कहते–"चारों ओर शांति है, चंद किरणें बिखरी हुई हैं, सुगंधित वायु चल रही। अंतिम क्षण में उनके आस-पास सभी छात्र-मित्र बैठे थे। विदा के समय उनके होठों पर कुछ अस्फुट बातें और कुछ पंक्ति थरथरा रही थी–

"चलना ही जब अभीष्ट है
तो रुद्र चल पड़ो
मिलते रहेंगे राह में संबल नए-नए।"

---

1. *डा. मैनेजर पाण्डेय*
2. *डा. नामवर सिंह–'एक नया काव्यशास्त्र त्रिलोचन के लिए', आलोचना-जु.-सित. 87, पृ.-95*

और उसी रात दादा हम सभी को संबलहीन बनाकर चले गए। 1 सितंबर 1970 का वह दिन आज भी घाव हरे कर देता है।"[1]

रुद्र जी क्या गए, मस्ती का आलम चला गया और इतराती-इठालाती काशी का चितेरा कुछ यूं अन्तर्धान हो गया जैसे—रंगमंच पर अपनी भूमिका निभा कर जाने वाला पात्र। बनारस को प्यार करने वाले यह सोचकर हमेशा मायूस होंगे। परंपरागत मस्ती का एहसास अब कहां रहेगा? कौन बताएगा अब काशी में कंकड़ को भी शंकर? और कौन दिखाएगा 'तेगअली' के चित्र?

रुद्र जी की ही पंक्ति स्मरण आती है—

"जाकी यहां चाहना है, बाकी वहां चाह ना है।
जाकी यहां चाह ना है, बाकी वहां चाहना है।।"

रुद्र का स्वभाव था—'कण भर लिखने के लिए मन भर पढ़ना।' उनके संपादित ग्रंथों की भूमिकाएं और समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख स्वयं में शोध हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र, देवकीनंदन खत्री, तेगअली और हिंदी रंगमंच पर रुद्र के शोधपूर्ण निबंधों का स्थाई महत्व है। वास्तव में रुद्र ही रचना-विरलता की तह में जितना उनका अलमस्त स्वभाव था उतना ही बिना गहरा अनुभव और अध्यापन के बिना लिखने की अनिच्छा भी थी। जैसे—फक्कड़ कबीर ने कुछ नहीं लिखा और 'अनभै सांचा' के बल पर ही सब कुछ कह दिया—

"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखिन की देखी।"

यही कबीरी फक्कड़ता रुद्र को विरासत में मिली थी। आज उन्हें एक-विश्वस्त ज़मीन की ज़रूरत है।

"आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक
कौन जीता है तेरी जुल्फ़ के सर होने तक
हमने माना कि : तग़ाफुल न करोगे लेकिन
ख़ाक तो जाएंगे हम तुमको ख़बर होने तक।"

---

1. *अंतरंग बातचीत के दौरान और 'अवकाश' मार्च (प्रथम) 81, पृ.-251*

दूसरा अध्याय

इतिहास के आलोक में काशी

- प्राचीन काशी
- मध्यकालीन काशी
- आधुनिक काशी

TH-1173

"कभी सईं सांझ
बिना किसी सूचना के
घुस जाओ इस शहर में
कभी आरती के आलोक में
देखो इसे अचानक
अद्‌भुत है इसकी बनावट
यह आधा जल में है
आधा मंत्र में
आधा फूल में है
आधा शव में है
आधा नींद में है
आधा शंख में
अगर ध्यान से देखो
तो यह आधा है
और आधा नहीं है।"[1]

उत्तर भारत की संस्कृति का प्रतीक-बनारस, जिसे देखना आसान है, पहचानना मुश्किल। छूना आसान है, पकड़ पाना मुश्किल। चित्रों में उतारना आसान है, मानचित्र में आत्मसात् करना मुश्किल है। इस रूप में आसान होते हुए भी यह एक 'बीहड़' नगर है। जिसके आगे 'बनारसी' लग जाता है उसकी एक अलग की पहचान बन जाती है। मस्ती, फक्कड़पन, ज़िन्दादिली और अपनापा यहां की निजी ज़िन्दगी है। फिर इसे जब कोई दूसरा देखता है तो यह कुछ और ही लगती है—यानी 'जाकी रही भावना जैसी, काशी ढब देखी तिन तैसी'। 'देखी तुमरी कासी लोगों' एक बाहरी दृष्टि है, जबकि 'देखो मेरी कासी, एक काशीवासी की नज़र से काशी का नज़ारा है।

"जहां भगवती जह्नुनंदिनी उत्तरवाहिनी होकर धनुषाकार तीनों ओर से लिपटी हैं मानों शिव की प्यारी जानकर गोद में आलिंगन कर रही हो, सांझ सवेरे घाटों पर नहाते असंख्य जन और शास्त्रार्थ करते ब्राह्मण, ऐसा लगता है जैसे कुबेरपुरी की अलकनंदा में

---

1. *केदारनाथ सिंह, 'प्रतिनिधि कविताएं' संपा.-परमानंद श्रीवास्तव राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-30*

किन्नरगण और ऋषिगण अवगाहन कर रहे हों; नगाड़ा-नफ़ीरी, शंख-घंटा, झांझ-स्तव और जय का तुमुल शब्द ऐसे गूंजता हो, जैसे पहाड़ों की तराई में भोर की प्रतिध्वनि, उस पर की जब कभी दूर से बड़े सवेरे नौबत की सुहानी धुन कानों में पड़े तो ऐसा लगता है, जैसे धीमी-धीमी झपकी आ रही हो।''[1]

जहां निराहार, पयाहार, भिक्षाहार, रक्ताम्बर, श्वेताम्बर, दिगम्बर, नीलाम्बर, चर्माम्वर, दण्डी, सन्यासी, ब्रह्मचारी, योगीमती, सेवड़ा, फ़कीर, कनफटे, ऊर्ध्वबाहु, गिरी, पुरी, भारती, वन-पर्वत, सरस्वती, कीनारामी, कबीरी, दादूपंथी, नान्हकसाही, रामानंदी, कौल अघोरी, शैव, वैष्णव, शाक्त और गाणपत्य इत्यादि एक ओर से भिक्षा मांगते मिलेंगे; यहां तक कि आधी काशी केवल दाता के ही भरोसे नित्य अन्न खाती है।

जहां के बने कमख़ाब, बाफ़ता, हमरु, गुलबदन, पोत बनारसी साड़ी, दुपट्टे, पीताम्बर, उपरनें, चोलखंड़, गोटा-पट्टा, मिठाई-ठण्डई, खिलौने, टिकुली, बीड़ा और तुलसी-माला जैसी चीज़ें उसी रूप में, अन्यत्र नहीं मिल सकती।

श्रद्धालु जनता का मानना है कि काशी त्रिलोक के बाहर भगवान शिव के त्रिशूल पर स्थित है जो प्रलयकाल की अस्थिरता में भी स्थिर होता है। यह भी कहते हैं कि 'प्रकाश' का लघु रूप है 'काश' इसी से 'काशी' (ENLIGHT) बना है। सृष्टि के प्रकाशनकाल में जब पहला प्रकाश प्रस्फुटित हुआ वह ज्ञानव्यापी (जहां ज्ञान व्याप्त हो) या शिव रूप में जाना गया; इसीलिए काशी को शिव की नगरी भी कहा जाता है। प्रसिद्ध सप्तपुरियों में सर्वाधिक प्राचीन काशी ही है:—

''अयोध्या मथुरा माया, काशी कांची ह्वतिंका।।
पुरी द्वारावती चैव स्प्तैता मोक्षदायिकाः।।''

कहते हैं यहीं 'ओंकार' या 'ओम्' की ध्वनि सुनी गई थी, जिसे परमशक्ति (विराट) कहा गया।

पुराणों में काशी के अनेक नाम लिखते हैं जैसे:—

काशी—'काश' अर्थात् चमक; यह मोक्षमार्ग को प्रकाशित करती है और इसके देवता संहार के देवता शिव हैं।[2]

---

1. *संपा—केशवचंद वर्मा—'छायानट-44' भूमिका, इलाहाबाद, पृ.-9-10*
2. *स्कंदपुराण, 26, 67*

वाराणसी—'वरुणा' और 'असि' दो नदियों के बीच स्थित होने के कारण यह 'वाराणसी' कहलाई। इद्रियजन्य पापों को नष्ट करने के कारण भी इसका यह नाम प्रचलित है।[1]

अविमुक्त—शिव और शक्ति ने इसे कभी नहीं छोड़ा अर्थात् व्यक्त किया अर्थात् अ + विमुक्त। दूसरे यह पापों से मुक्ति दिलाने वाली भी है।[2]

आनंदकानन—कहते हैं भगवान शिव को यह नगरी आनंद देती है।[3]

महाश्मशान—'काश्यां मरणाम् मुक्तिः'। काशी मोक्षदामिनी है। आज भी जाने कितने शव मणिकर्णिका घाट पर जलाए जाते हैं। आमतौर पर श्मशान अपवित्र होता है लेकिन शुरू से ही काशी परमपवित्र नगरी मानी जाती है। ग्रंथों में वर्णित है कि शिव स्वयं कहते हैं—'अविमुक्त एक विख्यात श्मशान है। मैं काल बनकर और यहां रहकर विश्व का नाश करूंगा।'

इसके अतिरिक्त इसे पुष्पवती, सुदर्शन, ब्रह्मवर्धन, रम्यनगर, मोलिनी, कासिनगर, कासिपुर, पोतलि और जित्वरी भी कहा गया है। मत्स्यपुराण और पद्मपुराण में काशी प्रयाग से भी बड़ा तीर्थस्थान बताकर यहां के मलेच्छों को भी भाग्यशाली कहा गया है। पापी, राठीं, भोगी, ढोंगी, अधार्मिक और कामाचारी भी यहां मोक्ष की प्राप्ति करता है। इस तरह मत्स्यपुराण, लिंग पुराण, पद्मपुराण, नारदीय पुराण और स्कंद पुराण जैसे तमाम ग्रंथों में काशीं की महिमा का बखान' मिलता है। केवल स्कंद पुराण के 'काशी खंड' को एकत्र कर दिया जाय तो एक वृहत् ग्रंथ बन सकता है। इसके अलावा उपनिषदों में भी बार-बार आता है कि काशी में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों की ब्रह्मवेत्ता थे। इससे लगता है कि प्रारम्भ में ही काशीं धर्म, ब्रह्मज्ञान और अध्यात्म विद्या के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अश्वमेघ यज्ञ में काशिराज को आमंत्रण और कैकई के कोप को शांत करने के लिए काशी से कई वस्तुएं मंगाने का उल्लेख भी मिलता है।[4] जिससे काशी की व्यापारिक और सामरिक महत्व का भी पता चलता है।

---

1. *वही, 26, 37*
2. *लिंग पुराण-92, 143*
3. *लिंग पुराण—92, 143*
4. *वाल्मीकि रामायण, 7/38/17-19*

व्यास के 'शतसहस्री संहिता' में काशी का प्रसंग दो रूपों में आता है—तीर्थ के रूप में तथा महाभारत युद्ध में पांडवों की ओर से काशीराज के सम्मिलन के रूप में, बल्कि तीर्थ के रूप में काशी का सर्वप्रथम वर्णन महाभारत में ही आता है।[1] डा. काणे और सिस्टर निवेदिता के अनुसार—"ईसाइयों के रोम तथा मुसाइयों के योरुशलम और मुसलमानों के मक्का से भी अधिक प्राचीन और पवित्र नगरी काशी है।"[2] "रोमन कैथोलिक अनुयायियों की पोपपुरी (बेटिकन सिटी) से कई गुनी पवित्र यह काशी नगरी हिंदुओं की कैण्टरबरी ही नहीं ऑक्सफ़ोर्ड की है।"[3] अर्थात् विद्या और धर्म दोनों की नगरी काशी है।

वैदिक स्मार्त और सनातन धर्म के अनुयायियों का समाज जब शैव-वैष्णव उपसंप्रदायों में उपासना पद्धति के आधार पर अलग-अलग ढंग से संगठित हुआ तब पंचगंगा घाट पर विष्णु की आराधना प्रारंभ हुई। यद्यपि यह शैव-भक्तों का ही स्थान रहा है, और जब शैव संप्रदाय अपने चरम पर था तब भी यहां बिंदु माधव मंदिर की स्थापना हुई, तब से इसे विष्णु काशीं कहा जाने लगा। दार्शनिक दृष्टि से शैवों ने जहां मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान काण्ड पर बल दिया वहीं वैष्णवों ने भक्ति और प्रेम पर। ज्ञान में जहां विराग और नृत्य (लास्य) की प्रधानता रही वही भक्ति में राग और समर्पण की। तब वैष्णवों का केंद्र वर्तमान गोपाल मंदिर था जिसे वैष्णव उपासना की पीठ (मथुरा के बाद छठा केंद्र) माना गया। 'विनय पत्रिका' की रचना यहीं हुई थी। वैष्णव उपासना की अनेक शाखा-प्रशाखा गुरु परम्परा से विकसित हुई है, जिसमें राधा स्वामी मंदिर और आगरा मुख्य केंद्र के रूप में माने गए। इतिहास के अनुसार वॉरेन हेस्टिंग्स की सेना ने इन्हीं दो केंद्रों पर कब्ज़ा कर काशी को जीतने की मुहिम चलाई थी। महाभारत में कृष्ण द्वारा एक बार काशी को जलाने की कथा भी आती है, जिसका संकेत दरअसल शैव-वैष्णवों के मनमुटाव को लेकर है। शैव संप्रदाय और शैव-साहित्य ज्ञानव्यापी से होकर समूचे भारत में फैला। कैलाश से रामेश्वरम् तक भारत के बारह भिन्न स्थानों पर बारह ज्योतिर्लिंगों और शिव मंदिरों तथा केंद्रों का प्रसार भी तेज़ी से हुआ। इसी में आगे

---

1. *महाभारत वनपर्व, 24/79*
2. *डा. काणे 'हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र'—भाग-4*
3. *सिस्टर निवेदिता-'फ़ुटफ़ॉल्स ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री'*

चलकर सती-पार्वती के नव-रूपों की भी कल्पना की गई, जिसमें अपराजेय नारी-शक्ति के रूप में काली को मिलाकर उनके व्यक्तित्व में शिव और शक्ति दोनों का आरोपण कर दिया गया। इसी तरह दुर्गा और अन्नपूर्णा के कई रूपों की भी मान्यता हुई। कुल मिलाकर शैव-वैष्णव और शाक्तों में तब कोई भारी मनमुटाव नहीं हुआ जो आगे चलकर मध्यकाल में हुआ।

काशी को चार जैन तीर्थंकरों के जन्म देने का भी गौरव मिला है जिनमें स्वामी पार्श्वनाथ ने प्रमाण और तर्क के आधार पर अपना मत चलाया और श्रमण-साधना पद्धति का प्रवर्तन किया। पार्श्वनाथ महावीर स्वामी से लगभग दो सौ पचास वर्ष पूर्व लगभग 777 ई.पू. हुए थे। काशी का सारनाथ जैनियों के आगम-ग्रंथों में सिंहपुर नाम से आता है जहां ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयासनाथ का जन्म हुआ था। 'इसिपत्तन' के रूप में जैन धर्मावलंबियों ने सारनाथ को तीर्थस्थल माना है। महावीर स्वामी की मृत्यु पर काशी कौशल के अट्ठारह संयुक्त राजाओं ने लिच्छिवियों और मल्लकों के अन्य राजाओं के साथ अमामासी के दिन प्रकाश किया था, जिसका उल्लेख 'सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट' में मिलता है।[1] बाद में महावीर स्वामी ने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत (Pluralistic theory of truth) का विकास किया। जैन-साहित्य से काशी में यक्ष-पूजा प्रथा का भी पता चलता है। इसी तरह जैन धर्मावलंबियों के साथ बौद्ध-धर्म भी आता है जिसने काशी के पण्डों-पुरोहितों की संस्कृति को अपनी निष्ठा के बल पर हिलाकर रख दिया।

'ईश्वरोनास्ति' कहकर वेद, वर्णाश्रम, यज्ञ और संस्कृत का विरोध करने वाले गौतम बुद्ध बोध गया से प्राप्त अपने अलौकिक ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने सारनाथ आए। सिद्धार्थ से तथागत और बुद्ध बनने के तमाम सोपानों से गुज़रे हुए इस महात्मा ने जनता को दुःख के निवारण के लिए मध्यम मार्ग (मज्झिम मग्ग) अपनाने की शिक्षा दी और इसी के आधार पर 'अट्ठंगिक मग्गम' (अष्टांग मार्ग) का विकास किया। मोटे तौर पर इनका मत था जो ईश्वर को मानना चाहे, वह माने और जो नहीं मानना चाहे, वह नहीं माने। इस तरह उन्होंने बांधा नहीं बल्कि छूट दी, जिससे काशी के पंडितों और ब्राह्मणों को बहुत असुविधा हुई। बौद्धकाल में भी काशी का राजनीतिक और सामरिक महत्व था, जिसका अनुमान हम 'जातकों' और 'त्रिपिटक' से लगा सकते हैं पालि

---

1. *सेक्रेड बुक ऑफ़ दि ईस्ट, जिल्द 22, पृ.-266*

साहित्य के जातक का आरंभ कुछ इस तरह से होता है :–

'अतीते वाराणासियं ब्रह्मदत्ते रज्जं करन्ते'

तब काशी सोलह जनपदों में विभक्त थी और चारों तरफ़ राजा ब्रह्मदत्त का बोलबाला था इतना, कि आगे आने वाले राजाओं को 'ब्रह्मदत्त' की उपाधि दी जाने लगी। इसकी पुष्टि के प्रमाण पुराणों में भी मिलते हैं। तत्कालीन काशी में अंग, उग्गसेन, उदय, धनंजय, विस्सेन, कलाबु, संयम और विकी आदि राजाओं के नाम भी आते हैं लेकिन उनकी ऐतिहासिकता का पुख़्ता प्रमाण नहीं मिलता। बुद्ध के समय में ही धीरे-धीरे काशीं की स्वतंत्रता समाप्त होने लगीं और काशी कोसल और मगध के हाथा में आ गई, बावजूद इसके इस नगर की ख्याति इस क़दर फैल चुकी थी कि लोग तब भी इसे एक स्वतंत्र जनपद के रूप में जानते थे। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लिए प्रस्तावित स्थानों में राजगृह, चंपा, श्रावस्ती, साकेत और कौशांबी के साथ वाराणसी का नाम भी आता है।[1] इस प्रकार काशी को चार खंडों में विभक्त कर सकते हैं:–

1. शिव काशी
2. वैष्णव काशी
3. जैन काशी
4. बौद्ध काशी

शैव, वैष्णव, जैन और बौद्ध जैसे संप्रदायों के पतनोत्थान से काशी में कोई विशेष उथल-पुथल नहीं हुई लेकिन इस्लाम के आगमन से जहां समूचे भारत में स्थिति एकदम विषम हो गई वहीं काशी भी इससे अछूती नहीं रही। ई. सन् के बाद पश्चिम एशिया से इस्लाम धर्म ने यहां जो आक्रमण किए वह जैनियों और बौद्धों के शास्त्रबल तक सीमित नहीं था बल्कि इस संघर्ष मेंक शस्त्र बल का ही खूब प्रयोग हुआ। लूट-पाट के लिए काशी पर पहला आक्रमण सन् 1034 में नियाल्तगीन ने किया। ई. सन् 1193 के थाणेश्वर युद्ध में मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान और गाहड़वाल नरेश जयचंद दोनों को परास्त किया। 1019 और 1022 में गोरी ने काशी को दो बार लूटा और सेनापति कुतुबद्दीन को बनारस विजय के लिए भेजा। विजयोपरांत कुतुबुद्दीन को दिल्ली में गद्दीनशीन करके गोरी स्वयं स्वदेश लौट गया क्योंकि यहां शासन करना उसका उद्देश्य

---

1. डा. मोतीचंद्र, 'काशी का इतिहास', प्रथम सं.-1962, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, पृ.-30

नहीं था। कुतुबद्दीन ने बनारस पर शासन की बागड़ोर संभाली और वहां एक अधिकारी नियुक्त किया। यहीं से बनारस में इस्लामी शासन की नींव पड़ी। शरीअत के क़ानून जारी किए गए और तमाम मस्जिदों का निर्माण प्रारंभ हुआ। यहां से तवारीख़ ने एक नई करवट ली और दो धर्मों और संस्कृतियों के मेल ने सौहार्द्र नहीं बल्कि सांप्रदायिकता की गहरी नींव खोद डाली।

काशी में सांप्रदायिकता का ज़ोर हमेशा से ही रहा है इसका एक कारण यह हो सकता है कि यह प्रारंभ से ही सनातन हिंदू धर्म का केंद्र और पंडित-पुरोहितों की नगरी रही है। दूसरा यह कि तमाम परिवर्तनों के बावजूद भी काशी में जैसे-का-तैसा बने रहने का विशेष गुण हैं या इसे अवगुण भी कह सकते हैं। आने वाले इसे अपने रंग में रंगना चाहते और काशी है कि स्वयं में सिमटी रहती इसलिए संघर्ष स्वाभाविक था। जब अलाउद्दीन ख़िलजी शासन में आया तो उसने अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों की राह ली। इस समय संपूर्ण भारत में बड़ी संख्या में हिंदुओं को मुसलमान बनाया गया। 1320 तक जब ख़िलजी शासन शिथिल पड़ा तब मुहम्मद तुगलक गद्दी पर बैठा तुगलक पर जैनाचार्य श्वेताम्बर जिनप्रभ का काफ़ी प्रभाव रहा है इस काल में काशी की स्थिति से जिनप्रभ सूरि की विविध तीर्थकल्प' रू-ब-रू कराती है। इस समय की ख़ासियत यह थी कि यहां तब जितनी भी मस्जिदें बनी वह लगभग मंदिरों के अवशेषों और उन्हीं के मसालों से बनीं।[1] इस समय हिंदुओं को जज़िया कर की माफ़ी थी। अटाला मस्जिद तुग़लक युग की ही कृति है।

जौनपुर काशी के आसपास का स्थान है जहां के शासकों ने काशी पर भी शासन किया है अतः हुसैन शाह शर्की की चर्चा प्रासंगिक है। लगभग 1458 में जौनपुर की गद्दी पर शर्की सुल्तान का कब्ज़ा हुआ जो बहलोल लोदी से हारकर बंगाल की तरफ़ भागे थे। जौनपुर में मस्जिदें बनवाने के लिए शार्कियों ने काशी से ख़ूब सामग्री मंगवाई थी। लाल दरवाज़े के खंभे और पद्मेश्वर मंदिर का शिलालेख ख़िलजी शासन में थे जो अब जौनपुर जनपद की विरासत बन चुके थे।

बनारस का शासन किसी के भी हाथ में रहा हो लेकिन वहां की जनता, चाहे वह हिंदू हों या मुसलमान वहीं की पानी-माटी में रच-बस चुकी थी। काशी के मुसलमानों का

---

1. *कुबेरनाथ सुकुल-वाराणसी-वैभव', प्रथम संस्करण-2000, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ.-27*

'सहचारीपन' उन्हें आज भी दुनिया भर के मुसलमानों से अलग कर देता है। इसी सहचारी संस्कृति के हिमायती आगे चलकर 'नज़ीर बनारसी' हुए, जो बड़े गर्व से कहते हैं—"मैं वो काशी का मुसलमां हूं"—वह इसी काशीं के होके रह गए थे—

"आए काशी में, हमीं काशी के होके रह गए
आबरू ईरान की मेरे वतन में रह गई।"

दरअसल सत्ता की आड़ में अवसरवादिता और दुचित्तेपन का स्वभाव आज के ही नहीं बल्कि हर दौर के महानायकों का रहा है। हम हमेशा इतिहास का हवाला नहीं दे सकते, क्योंकि कई रूपों में इतिहास भी बदल दिया जाता है। इतिहास लिखने में इतिहासकारों का रूख़ बहुत महत्वपूर्ण होता है जैसे—

— इतिहासकार की ख़ास पसंद क्या है

— इतिहासकार किस प्रकार के स्रोत को महत्वपूर्ण मानता है।

— अपने स्रोतों के प्रति वह कितना आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक रूख़ अपनाता है।

— किस तरह के सियासी हालात में इतिहासकार लिख रहा है।

मध्यकाल या उससे पहले जितने इतिहासकार थे वे ब्राह्मण या कायस्थ थे। संस्कृत इनकी बपौती थी। भला ऐसे महान स्रोतों के प्रति वे आलोचनात्मक बखान तो मिलता है लेकिन जनता का इतिहास नहीं मिलता। मध्यकाल में काशी धर्म और संस्कृति का प्रमुख केंद्र की इस लिए वह मुसलमान शासकों की नज़र में रही, और इसलिए मंदिर तोड़े गए, लोगों को मुसलमान बनाया गया, लेकिन तथ्य केवल यही नहीं है। हिंदू साम्प्रदायिकतावादी यह कोशिश करते रहे और दिखाते रहे कि प्राचीन काल में एक आदर्श हिंदू समाज था और यहां जितनी बुराइयां या सांप्रदायिकता फैली है उन सब की जड़ है—मुसलमानों का आगमन। ठीक वैसे ही मुस्लिम सांप्रदायिकतावादी यह साबित करने में लगे रहते हैं कि अलगाववाद की जड़ें मध्यकाल के आरंभ और उसी के विस्तार में है यानी ग्यारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के आसपास। इसलिए केवल यह कहना कि मुसलमानों के आगमन से सनातन आर्य संस्कृति का विनाश हुआ है ठीक वैसा ही है जैसा आज हम पाश्चात्य संस्कृति के लिए कह रहे हैं। पाश्चात्य देशों के खान-पान, संगीत-कला, तीज-त्योहारों और रहन-सहन-पहनावें के आ जाने से आज फिर हमारी

आर्य संस्कृति का पतन हो रहा है। अपवाद हो सकता है, लेकिन ज़रूरी नहीं कि मुसलमानों की मंशा केवल अपने धर्म का प्रचार-प्रसार और विस्तार ही था। काशी या समूचे भारत में जितने भी मुस्लिम शासक हुए हैं, उनकी पहचान लगभग मूर्तिभंजक के रूप में ही हुई है, लेकिन देखना यह चाहिए कि इस रूप में हिंदू शासकों की क्या परम्परा रही है? बक़ौल रोमिला थापर—"हर्षवर्धन ग्यारहवीं शताब्दी में कश्मीर का राजा था, जिसके लिए मंदिरों को लूटना बाक़ायदे एक संगठित और संस्थाबद्ध कार्य था। 'कल्हण' की 'राजतरंगिणी' में यह उल्लेख है कि हर्ष ने इस काम के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया था—देवात्पादन नायक : (वस्तुतः इस अधिकारी की नियुक्ति देवमूर्तियों के उच्छेद के लिए हुई थी), जिसका प्रमुख दायित्व था मंदिरों की लूट का रख रखाव।"[1] इस लूट का सबब धार्मिक नहीं था बल्कि राजनीतिक था। शासक चाहे हिंदू हो या मुसलमान, अगर वह सत्ता-लोलुप है तो किसी भी मसले को पहले राजनीतिक दृष्टिकोण से देखता है। कट्टर मुसलमान माना जाने वाला अलाउद्दीन ख़िलजी—कहते हैं इसके काल में काशी में शायद ही कोई मंदिर बचा होगा। ऐसे मज़हबी जुनूनी शासक का समकालीन इतिहासकार ज़िया बरनी इस बात पर रोता-कलपता है कि अलाउद्दीन ख़िलजी ऐसा सुल्तान था, जिसने शरीअत की कोई परवाह नहीं थी। न राजकीय मामलों ने, न निजी ज़िंदगी में। यानी धार्मिक और आंतरिक वैर-विरोध में फ़र्क करना ज़रूरी है। यदि देवी प्रसाद मिश्र की कविता 'मुसलमान' का हवाला दिया जाय तो कपड़े बुनते, ताले और बक्से बनाते इन ग़रीब मुसलमानों के श्रम की आवाज़ें काशी की तंग-गलियों में आज भी सुनाई देती हैं। सचमुच यदि 'सच को सच की तरह कहा जा सकता है, तो सच को सच की तरह सुना जाना चाहिए।'

लोदियों और शर्कियों का संघर्ष इतिहास प्रसिद्ध है। निश्चित रूप से इस संघर्ष का प्रभाव काशी पर भी पड़ा। जब सत्ता बर्बक शाह के हाथ में थी तब काशी में बछगोती राजपूतों की बड़ी संख्या थी। इन बढगोही राजपूतों ने बर्बकशाह के प्रति विद्रोह कर दिया। नतीजतन बर्बकशाह डलमऊ भाग गया और काशी में बढगोती राजपूतों का आधिपत्य हो गया। बाद में सुल्तान सिकंदर लोदी ने काशी की सत्ता संभाली। यह कबीर

---

1. रोमिला थापर—'सांप्रदायिक और भारतीय इतिहास-लेखन'—संपादक एवं अनुवादक प्रदीप सक्सेना—'इतिहास का सच और सच का इतिहास' उद्भावना प्रकाशन, पृ.-15

का समय था। मुसलमान सिकंदर लोदी को 'सच्चा ग़ाज़ी' मानते थे। सिकंदर लोदी की बेतहाशा बर्बरता ने यहां की जनता को भीतर तक हताश कर दिया। इसके बाद बनारस शायद सौ साल बाद ही सीधा खड़ा हो सका। फिर भी बनारस में जल्द ही अपनी प्राचीनता में लौट आने की अजब शक्ति थी। सुल्तान के लाख अत्याचार की बनारस की मौजी संस्कृति मिलने में असफल रहे।

आचार्य द्विवेदी ने लिखा है—"इस्लाम का सामना करने के लिए विशाल हिंदू धर्म के जंगल से एक पथ निकालने का प्रयास कुछ स्मार्त पंडितों ने किया, जिससे हिंदुओं में श्राद्ध और विवाहादि की एक रीति-नीति प्रचलित हो सके।"[1] किंतु इस रीति-नीति और आचार पर बल देने के कारण हिंदुओं की जड़ता और बढ़ गई और हिंदू जनता जप-तप और होम-हवन में ही जुटी रही। इसका प्रमुख कारण इनकी गहरी हताशा की थी। 'दूध का जला छाछ भी फूंककर पीता है, वाले मुहाविरे की तरह हिंदू जनता अपने धर्म को लेकर सशंकित थी। उन दिनों काशी और काशी के आस पास कट्टर नाथपंथियों का भी बोलबाला था। बाहरी आक्रमण के प्रति व्यापक संघर्ष न करना हिंदू शासकों की कमज़ोर नब्ज़ है। तुर्क आक्रमण के ख़िलाफ़ इन्होंने व्यापक जन-प्रतिरोध नहीं किया न ही आगे चलकर मुग़लों के ख़िलाफ़ कोई ख़ास विरोध हुआ। ये अपने आंतरिक और आपसी वैमनस्य के साथ स्वार्थपरता साधने में लगे रहे। ऐसे किसी भी व्यापक जन-प्रतिरोध की सूचना हमें तब जाकर मिलती है जब महाराष्ट्र के किसान विद्रोह करते हैं या पंजाब-आगरा-मथुरा मंडल में बढ़ते आर्थिक दवाबों के विरुद्ध किसान उठ खड़े होते हैं।

आज हिंदू रूढ़िवादी इतिहासकार मंदिर-विध्वंस और धर्मांतरण का वर्णन ख़ूब जोश-ओ-ख़रोश और अलंकृत शैली में करते है, वैसा ही वर्णन रूढ़िवादी मुस्लिम इतिहासकार भी करते थे। सत्ता संभालने वाले मुस्लिम शासक भी यह बात जानते थे कि हिंदू मंदिर तोड़ने और धर्मांतरण से ही वह हिंदुओं के इस्लाम के प्रति आदर नहीं जगा सकते बल्कि घृणा ही पैदा कर सकते हैं—कट्टर मुस्लिम शासक माना जाने वाला बादशाह बाबर अपने पुत्र हुमायूं के लिए वसीयत नामा कुछ यूं तैयार करवाता है—"बेटा, इस हिंदुस्तान में बहुत से धर्म है—इस देश के लोगों को जीतने के लिए

1. *हजारी प्रसाद द्विवेदी-'कबीर'—राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-172*

गोहत्या से बचो और अपने प्रशासन में लोगों को शामिल करो शिया सुन्नी के भेदभावों की उपेक्षा करो क्योंकि यह इस्लाम की कमज़ोरी है। राज्य की सीमाओं में स्थित इबादत की जगहों और मंदिरों को नुकसान न पहुंचाओ। इस्लाम अच्छे कार्यों से ही फैल सकता है, दहशत से नहीं।"[1] हरबंस मुखिया ध्यान दिलाते हैं कि 'ज़्यादातर वे ही मंदिर तोड़े गए, जो दुश्मन के इलाके में पड़ते थे। वे नहीं तोड़े गए, जहां तक सुल्तान का अपना राज्य कायम था।"[2] संयोग देखिए यही सियासी काम हिंदू राजाओं ने बहुत पहले किया था—जैसे सुभ्भात वर्मन या हर्षवर्धन आदि। दूसरा मसला धर्मांतरण का है, तो ज़बर्दस्ती के अलावा कुछ लोगों ने सुफ़ियों के प्रभाव से स्वैच्छिक रूप से की धर्म-परिवर्तन किया। हिंदू धर्म की निम्न जातियों ने इसलिए भी धर्मांतरण किया क्योंकि इस्लाम अपनाने के बाद उनका निम्न जाति के होने का कलंक मिट जाएगा। दरअसल वह युग ही युद्धों का था। समूहों के बीच भी और व्यक्तिगत भी। कोई सीमा नहीं। न क्षेत्रीय, न धार्मिक न नस्ली। मुस्लिम अमीरज़ादे सुल्तान के ख़िलाफ़ भी बग़ावत करते थे और आपस में भी लड़ते थे यही हाल हिंदुओं का भी था। राजस्व और राजनीतिक सत्ता के लिए सब एकरस थे। अपने साधनों से कई गुना ज़्यादा एश्वर्य दोनों समुदाय भोगता था। उनके सम्मान का पैमाना उनके द्वारा किया हुआ कर्ज़ होता था। जितना बड़ा क़र्ज़ उतनी बड़ी शान। उनका जीवन भी स्वामियों की प्रतिच्छवि ही थी। फिर भी कला को जिस क़दर संरक्षण मिला, वह अपने समय का विचित्र परिणाम है। उनमें आपस में होड़ थी कि किसके दरबार में कितने कवि या संगीतकार वग़ैरह हैं। दोनों अपनी जनता के प्रति बेरुख़ी करने में भाई-भाई थे। वह चाहे हिंदू हो या मुसलमान। इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। हमारे यहां यह मिथक आज भी महत्वपूर्ण है कि भारतीय समाज और संस्कृति—भारतीय सभ्यता—एक उच्चतम सभ्यता थी। अर्थात् वह प्राचीन भारत में स्वर्ण युग की व्यक्त करती थी, जो मध्यकाल में निरंतर पतित होती गई, उसी को हम 'विदेशी शासन' के रूप में जानते हैं और यह पतन तब तक जारी रहा जब तक पुनुरुत्थानवादी शक्तियां प्रकट न हो गई और यह लक्ष्य निर्धारित न हो गया कि हमें फिर उसी महान अतीत को प्राप्त करना है। इस पतन को इस्लाम या मुसलमानों के शासन पर मढ़ देना

1. *संपा.—पंकज बिष्ट—समयांतर—अक्टू. 2003, 'मुसलमान : एक हस्तक्षेप'—कमाल अहमद—नई दिल्ली, पृ.-27*
2. *संपा.—प्रदीप सक्सेना—इतिहास का सच और सच का इतिहास, उद्भावना प्रकाशन, पृ.-32*

या पश्चिम के सिर पर डाल देना सबसे आसान था। दोनों दुश्मन। वस्तुतः इतिहासकार जब तक समग्र दृष्टि का फैलाव नहीं करेगा तब तक इतिहास सेक्यूलर नहीं होगा। उसे ऐसे स्रोतों को चुनना होगा, जो व्यापक समाज का अंग हो, न कि किसी ख़ास ग्रुप का। ऐसा होने पर हमें किसी पक्ष को उभारने के लिए किसी पक्ष को दबाने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी जैसा कि साम्प्रदायिकतावादी और राष्ट्रवादी दोनों तरह के इतिहासकारों की मजबूरी रही है। जिस तरह चौहान, परिहार सोलंकी, मराठे, सिख और जाट आदि जातियों ने मिलकर इतिहास को भिन्न-भिन्न मोड़ दिए, उसी तरह गुलाम, ख़िलजी, तुगलक, लोदी और मुग़ल वंश के भी भारतीय जन जीवन की मुख्य धारा में खुद को समाहित कर दिया है और अपनी पहचान बनाकर/मिटाकर भारतीय जीवन धारा और इतिहास को समृद्ध किया है :–

"वे न होते तो लखनऊ न होता
आधा इलाहाबाद न होता
मिहराबें न होतीं गुंबद न होता
आदाब न होते
मीर, मक़दूम, मोमिन न होते, शबाना न होतीं
मुसलमान न होते तो अट्ठारह सौ सत्तावन न होता
वे थे तो चचा हसन थे
वे थे तो पतंगों से रंगीन होते आसमान थे
वे मुसलमान थे।"[1]

चौदहवीं सदी के प्रारंभ में 'हरि को भजै सो हरि का होई' सिद्धांत लेकर आए–स्वामी रामानंद। चूंकि तत्कालीन समय में इस्लाम में जाति-भेद और अस्पृश्यता का वैसा चलन नहीं था जैसा हिंदू धर्म में, इसलिए अस्पृश्य हिंदू जातियों के मुसलमान बन जाने से उन्हें एक बार में ही इस तिरस्कार से मुक्ति मिल जाती थी। हिंदुओं को इस प्रलोभन से बचाने के लिए भक्ति का एक नया मार्ग निकाला गया। स्वामी रामानंद का जन्म-प्रयाग में हुआ था लेकिन उनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में ही हुई थी। काशी से ही उन्होंने अपने मत का प्रचार-प्रसार शुरू किया। सभी रामानंदी, वह चाहे किसी भी जाति के हो,

---

1. *देवी प्रसाद मिश्र–'मुसलमान'–'आलोचना'–अक्टूबर-दिसम्बर 89, पृ.-4*

सहभोजी होते थे। रामानंद ने जाति की फौलादी दीवारों और प्राचीन रूढ़ियों को ही नहीं तोड़ा बल्कि छोटों को उठाया और उन्हें सामाजिक-धार्मिक एकता दी। उन्हें लगा कि नए मत के प्रचार के लिए संस्कृत से काम नहीं चलने वाला है और जल्द ही स्वामी जी और उनके शिष्यों ने जनता की भाषा को अपनाया। स्वामी जी के शिष्यों में एक ब्राह्मण, एक राजपूत, एक चमार और यहां तक कि एक स्त्री भी थी। रामानंद का चलाया हुआ सिद्धांत आगे चलकर 'भक्ति-आंदोलन' के रूप में तब्दील हो गया :—'भक्ति द्राविड़ उपजै, लाए रामानंद।'

काशी की संस्कृति से प्रभावित होकर जहां हर किसी ने एकस्वर में काशी की सराहना की, वहीं काशी के ही कबीर की आवाज़ विरोधी के रूप में उभरी। 'जस कासी तस मगहर' की घोषणा करने वाले कबीर के स्वभाव में समझौता और सुलह की बात ही नहीं थी, इसलिए कबीर अपनी अंतिम सांस काशी ने नहीं बल्कि मगहर में लेते हैं:—

'जो कबिरा कासी मरे, तो रामै कौन निहोरा'

दरअसल कबीर उस चौराहे पर खड़े थे, जहां से एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व। एक ओर प्रेम निकल जाता है दूसरी ओर ज्ञान और योग। इन सभी को कबीर साक्षी भाव से देखते हैं इसलिए कबीर ने न तो हिंदुओं को छोड़ा है न ही मुसलमानों को बख़्शा है :—

'पाथर पूजै हरि मिले तो मैं पूजूं पहार'
'कांकर पाथर जोरि के मस्जिद लई चुनाय'
तो चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा भय खुदाय।''

कबीर साहित्य मुख्यतः अस्वीकृतियों और नकारात्मकता से भरा पड़ा है लेकिन अस्वीकृति से ही रूढ़ियां नष्ट नहीं होती इसलिए कबीर प्रेम-मार्ग को भी अपनाते हैं, जिसे वह सभी वाह्या चारों से ऊपर समझते हैं। उनके लिए इसके आगे वेद-कुरान, मंदिर-मस्जिद भुलावे के साधन थे। इसलिए सिकंदर लोदी का कोप उन पर जायज़ था। यह उल्लेख मिलता है कि उनकी वाणी के प्रभाव से सिकंदर लोदी बड़े उत्साह से काशी था और उलेमाओं तथा धर्मशास्त्रियों के कहने पर उन्हें दण्डित करना चाहता था।[1] प्रेम के इस पथिक को उसके युग ने बहुत कड़ुवे अनुभव दिए। 'मुक्ति केवल अविमुक्ति पुरी

1. *चौबे और श्रीवास्तव — ''मध्ययुगीन समाज एवं संस्कृति'' 1970, पृ.-344*

सहभोजी होते थे। रामानंद ने जाति की फौलादी दीवारों और प्राचीन रूढ़ियों को ही नहीं तोड़ा बल्कि छोटों को उठाया और उन्हें सामाजिक-धार्मिक एकता दी। उन्हें लगा कि नए मत के प्रचार के लिए संस्कृत से काम नहीं चलने वाला है और जल्द ही स्वामी जी और उनके शिष्यों ने जनता की भाषा को अपनाया। स्वामी जी के शिष्यों में एक ब्राह्मण, एक राजपूत, एक चमार और यहां तक कि एक स्त्री भी थी। रामानंद का चलाया हुआ सिद्धांत आगे चलकर 'भक्ति-आंदोलन' के रूप में तब्दील हो गया :—'भक्ति द्राविड़ उपजै, लाए रामानंद।'

काशी की संस्कृति से प्रभावित होकर जहां हर किसी ने एकस्वर में काशी की सराहना की, वहीं काशी के ही कबीर की आवाज़ विरोधी के रूप में उभरी। 'जस कासी तस मगहर' की घोषणा करने वाले कबीर के स्वभाव में समझौता और सुलह की बात ही नहीं थी, इसलिए कबीर अपनी अंतिम सांस काशी ने नहीं बल्कि मगहर में लेते हैं:—

'जो कबिरा कासी मरे, तो रामै कौन निहोरा'

दरअसल कबीर उस चौराहे पर खड़े थे, जहां से एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व। एक ओर प्रेम निकल जाता है दूसरी ओर ज्ञान और योग। इन सभी को कबीर साक्षी भाव से देखते हैं इसलिए कबीर ने न तो हिंदुओं को छोड़ा है न ही मुसलमानों को बख़्शा है :—

'पाथर पूजै हरि मिले तो मैं पूजूं पहार'

'कांकर पाथर जोरि के मस्जिद लई चुनाय'

तो चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा भय खुदाय।''

कबीर साहित्य मुख्यतः अस्वीकृतियों और नकारात्मकता से भरा पड़ा है लेकिन अस्वीकृति से ही रूढ़ियां नष्ट नहीं होती इसलिए कबीर प्रेम-मार्ग को भी अपनाते हैं, जिसे वह सभी वाह्या चारों से ऊपर समझते हैं। उनके लिए इसके आगे वेद-कुरान, मंदिर-मस्जिद भुलावे के साधन थे। इसलिए सिकंदर लोदी का कोप उन पर जायज़ था। यह उल्लेख मिलता है कि उनकी वाणी के प्रभाव से सिकंदर लोदी बड़े उत्साह से काशी था और उलेमाओं तथा धर्मशास्त्रियों के कहने पर उन्हें दण्डित करना चाहता था।[1] प्रेम के इस पथिक को उसके युग ने बहुत कड़ुवे अनुभव दिए। 'मुक्ति केवल अविमुक्ति पुरी

1. *चौबे और श्रीवास्तव — ''मध्ययुगीन समाज एवं संस्कृति'' 1970, पृ.-344*

काशी में ही मिल सकती है, इस विश्वास को कबीर ने हिला दिया। उनकी दृष्टि में प्रेम और भक्ति के लिए किसी स्थान का बंधन नहीं, हृदय चाहिए। लेकिन काशी को नकारना आसान नहीं था, कबीर के लिए भी नहीं। कबीर की परंपरा-विपरीत विद्रोही बातें, अक्खड़ता-फक्कड़ता और बेलौसियत आख़िर बनारस की ही देन थी। पूरी ज़िन्दगी काशी में बिताकर मृत्यु के लिए मगहर जाने और संस्कृत को छोड़कर 'भाखा' की सदानीरा बहाने का साहस 'खांटी बनारसी' कबीर में ही हो सकता था। कबीर की आवाज़ भी उसी काशी से निकली थी जहां उन्हीं के दो हज़ार वर्ष पहले भगवान बुद्ध ने 'सर्वहितकामना का सिद्धांत' प्रतिपादित किया। इधर लोदी वंश के पतन के बाद बाबर ने मुग़लिया सल्तनत की नींव डाली और अपने पुत्र हुमायूं को भेजकर जौनपुर से ग़ाज़ीपुर तक अपना कब्ज़ा जमा लिया।

अकबर के शासनकाल में काशी की जनता को थोड़ा सांस लेने का अवकाश मिला। अकबर के दरबार में राजा टोडरमल और राजा मानसिंह जैसे लोग थे। टोडरमल ने अपने गुरु भट्ट नारायण के आग्रह पर विश्वेश्वर मंदिर (वर्तमान ज्ञानव्यापी विश्वनाथ मंदिर) का पुनर्निर्माण कराया और जमपुर महाराज राजा मानसिंह ने बिंदुमाधव मंदिर को बनवाया। ये दोनों मंदिर तब भी अद्वितीय थे। चूंकि ये मंदिर धार्मिक ही नहीं सांस्कृतिक प्रतीक भी थे, अतः इनके पुनर्निर्माण से काशी की जनता में उत्साह बढ़ा। अकबर के शासन काल में आमेर राजवंश काशी से बहुत आकर्षित हुआ। इस वंश ने काशी में राजघाट पर यज्ञशाला का निर्माण कराया। उसी के पार्श्व के एक पाठशाला थी जहां पहले राजकुमार शिक्षा के लिए जाते थे। अकबर-जहांगीर युग में सबसे बड़ी घटना है—तुलसी का प्रादुर्भाव। 'तुलसी बाबा' जिन्हें हम सीधा-सादा व्यक्ति समझते हैं, पर अखाड़ेबाज़ी में वह भी किसी से कम नहीं अपने निंदकों के लिए उनका चुनौतीपूर्ण लहज़ा देखिए :—

'धूत कहो अवधूत कहो, रजपूत कहो, जुलहा कहो कोई।
काहू की बेटी से बेटा न ब्याहन काहू की जात बिगारन सोई।।''

तुलसी ने अकबर का पूरा शासन काल देखा और जहांगीर का भी अधिकांश राजत्वकाल देखकर ही शरीर छोड़ा।

तब वर्ण-व्यवस्था ही आर्थिक नीति का आधार थीं जो ख़स्ता हाल थी, साथ ही संस्कृत-भाषा, शैव-वैष्णव-शाक्तों का सांप्रदायिक संघर्ष भी ज़ोरों पर था। इनकी रचना में अकाल की तो बार-बार चर्चा होती है। धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से भी काशी की स्थिति अच्छी नहीं थी। ऐसे में तुलसी और रहीम ने अपने साहित्य के जरिए अपना-अपना काम किया।

'रामचरितमानस' का आरंभ शिव-कथा से करके और शिव के मुख से ही राम कथा कहलवाकर मानसकार ने जगह-जगह शिव और राम में अभेदता दिखाई है। उन्होंने अपने समय-समाज को रावण-युग की तरह बताया है। इसलिए वह 'रामराज्य' का यूटोपिया रचते हैं–

"जिनके अस आचरन भवानी।
ते जानहूं निसिचर सम प्रानी।।"

'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' आदि में उन्होंने अपने युग को पूरी तरह उघाड़ दिया है :–

'खेती न किसान को भिखारी न भीख बलि।
बनिक को बनिज ना चाकर को चाकरी।।"

तुलसी ने भक्ति और आदर्श की जो धारा बताई, उसने मुग़लकालीन भारत को धैर्य और दृढ़ता प्रदान की। इनकी भक्ति समूचे संसार को राममय देखती है और हर स्थिति में राम पर भरोसा रखती है। इसी प्रेम और भक्ति के वशीभूत राम ने शबरी के जूठे बेर खाए और निषाद को छाती से लगाया यहां तक कि शत्रु पक्ष के विभीषण को शरण भी दी। जनता के सामने तुलसी ने राम रूपी आदर्श रखा और उनके सूने जीवन में भक्ति की लहर दौड़ाकर उन्हें अपने बाहरी और भीतरी दुखों से लड़ने को तैयार किया। कबीर के बाद तुलसी ने शैव-वैष्णव, शाक्त, स्मार्त और निर्गुण-सगुण सभी में समन्वयात्मकता लाने का पुरज़ोर प्रयास किया कबीर और तुलसी दोनों ही काशी के विद्रोहात्मक और समन्वयात्मक प्रवृत्ति के परम निदर्शन है। काशी का मन इन दोनों छोरों को छूता है।

इनके बाद एक बहुत महत्वपूर्ण नाम आता है रैदास का। संत रैदास बिना आक्रोश और सपाट ढंग से अपनी बात रखते हैं। ऐसा लगता है उन्हें किसी बात का मलाल नहीं,

कोई गिला-शिकवा नहीं। प्रभु अगर चंदन हैं, तो वह पानी है। इस तरह रैदास जूता बनाते हुए ही परम पद को प्राप्त करते हैं और धर्म को कर्म से अभिन्न मानते हैं। उनके जैसी सहजता और सघनता दूसरे भक्त कवियों में दुर्लभ है:—

"प्रभु जी तुम दीपक हम बाती।
जाकी जोत जले दिन राती।।
प्रभु जी तुम धन बन हम मोरा।
जैसे चितवन चंद चकोरा।।"

उन्हें शिकायत है तो स्वयं से और वह शिकायत करते भी है केवल अपनु प्रभु से। प्रभु ही उनका सखा है :— 'साखी नाही और कोई दूसर' कहने वाले रैदास की यह पंक्ति उनका एक बड़ा विद्रोह है—

'मेरी जाति कमीनी पाती कमीनी
ओछा जनम हमारा,
तुम सरनागति राजा राम
कहे रैदास चमारा।"

वस्तुतः रैदास में काशी का तत्व चिंतन और भक्ति दोनों का योग है। रैदास के समय और समाज ने उनके व्यक्तित्व को एक प्रकार से 'न्यूट्रल' बना दिया था।

जहांगीर का शासन जब समाप्तप्राय था तभी उसके पुत्र शाहजहां ने विद्रोह कर दिया और इलाहाबाद से भागता हुआ काशी आ पहुंचा। शाहजहां का द्वितीय पुत्र भी अपने काल ने काशी आता है लेकिन जयसिंह और सुलेमान शिकोह ने गंगा के दाहिने तट पर उससे युद्ध कर उसे परास्त किया। मुग़लिया सल्तनत का सच्चा वारिस द्वारा शिकोह भारतीय दर्शन और हिंदू धर्म के अध्ययन के लिए काशी आया और यहां से ज्ञान अर्जित किया। दारा ने यहां के दार्शनिकों और पंडितों को एकत्र कर उनसे उपनिषदों की जानकारी की और फ़ारसी में उनका अनुवाद भी किया।[1] इस समय काशी में प्रसिद्ध विद्वान कवीन्द्राचार्य की ख्याति थी जिनका प्रभाव मुग़ल दरबार में ही नहीं संपूर्ण भारत में था। कवीन्द्राचार्य के प्रभाव से ही उनके समय में जज़िया कर की माफ़ी थी। कवीन्द्राचार्य के संस्कृत पुस्तकालय की चर्चा यूरोपीय विद्वानों ने भी की है।

---

1. *नागरी प्रचारिणी पत्रिका-भाग 97/2, वाराणसी, पृ.-180*

शाहजहां काल में ही पंडितराज जगन्नाथ ने हिंदू-मुसलमान एकता पर बल दिया। यहां तक कि तमाम आलोचनाओं के बावजूद मुसलमान महिला 'लवंगी' से विवाह करके हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए एक मिसाल रखी।

अंततः औरंगज़ेब ने सत्ता को हासिल किया। शुरूआती दौर में ही औरंगज़ेब ने एक फ़रमान जारी करवाया जिसमें मंदिरों को नहीं तोड़ने और सबको अपने तरीके से काम करने की आज़ादी की बात रखी गई लेकिन इसे फ़रमान को महत्व नहीं मिला। औरंगज़ेब ने काशी का नाम 'मुहम्मदाबाद' रखा। मुग़ल-शासकों में काशी के लिए सर्वाधिक असहिष्णु समय औरंगज़ेब का ही था। प्राचीन समय से काशी का जो व्यापारिक और सामरिक महत्व था वह महत्व मुग़ल-सल्तनत में धीरे-धीरे कम होने लगा। औरंगज़ेब के बाद मुग़ल सल्तनत धीरे-धीरे शिथिल पड़ती गई। आगे चलकर फर्रूख़सियर और बहादुर शाह जफ़र के शासन में भी कुछ ख़ास परिवर्तन नहीं हुए और मराठों का उत्कर्ष आरंभ हो गया काशी के इतिहास ने एक और करवट ली।

बनारस की कला, साहित्य और संस्कृति के निर्माण में मराठों का बड़ा हाथ रहा है, अन्नपूर्णा मंदिर, काल भैरव त्रिलोचन और साक्षी विनायक जैसे वर्तमान मंदिर इन्हीं की देन हैं। गंगा के बहुत से घाट, जिनके लिए काशी आज भी जानी जाती है, इसी समय की कृतियां हैं। इनमें से बहुतों का जीर्णोद्धार भी इन्होंने किया है। बनारस की सांस्कृतिक कृति ज्ञानवापी के निकट का मुक्तिमण्डप भी इसका अच्छा उदाहरण है। इसी तरह बंगाल की रानी भावनी ने दुर्गा मंदिर, तारकेश्वर का शिवालय और मत्स्योदरी के पक्के तालाबों का निर्माण कराया था।

1719 में फ़र्रुख़सियर गद्दी से उतरा और बादशाह मुहम्मदशाह ने नवाब मुर्तजा खां नामक सरदार की बनारस, जौनपुर, चुनार और ग़ाज़ीपुर चार सरकार जागीर में दे दी। इसका ठेका मुर्तजा खां ने पांच लाख वार्षिकी पर रुस्तम अली नामक शख़्स को दे रखा था। मीर रुस्तम अली की लोकप्रियता का अंदाज़ इसी बात से लगाया जा सकता है कि जब उन्हें क़ैद कर लिया गया तो काशी में उनका नाम लेकर एक फाग रचा गया–

'कहां गयो मेरो होली के खेलैया।
रूस्तम अली बांको सिपहिया।।"

मीर सौंदर्यप्रेमी और परिष्कृत रुचि के धनी थे और हिंदू संस्कृति का मोह इनसे नहीं छूटा। उन्होंने न केवल 'बुढ्वा मंगल' जैसे उत्सवों की शुरूआत की बल्कि मान मंदिर घाट के उत्तर मेंक एक घाट दुश्ता और एक क़िला भी बनवाया। बाद में इन्हीं के अमले पर काशिराज बलवंत सिंह ने रामनगर का क़िला बनवाया। रुस्तम अली के घाटों का ज़िक्र बाजीराव प्रथम के एक कारकुम सदाशिव नाइक' के एक पत्र में मिलता है।

इन्हीं रुस्तम अली की नौकरी में थे मंसाराम। इनके पिता मनोरंजन सिंह कसवार परगने के थुथुरिया गांव (आधुनिक गंगापुर) के थे। थुथुरिया गांव का आधा हिस्सा मनोरंजन सिंह का ही था। उनके पुत्र मंसाराम असाधारण चतुर, बुद्धिमान और महत्वाकांक्षी थे। पहले वह कसवार के राजा बौरीसाल के यहां नौकरी करते थे। बाद में इनका परिचय रुस्तम अली से हुआ जो धीरे-धीरे घनिष्ठता में बदल गया। मंसाराम ने कूटनीति के बल पर बौरीसाल और रुस्तम अली में युद्ध करवा दिया और रुस्तक अली को पूरी तरह अपने पर आश्रित कर दिया। तमाम राजनीति और षड्यंत्रों में फंसे रुस्तम अली भी अंततः जेल में डाल दिए गए और मंसाराम आधुनिक बनारस के संस्थापक हुए, लेकिन सत्ता मिलते ही मंसाराम चल बसे और उनके पुत्र बलवंत सिंह ने गद्दी संभाली। बच्चन सिंह लिखते हैं—"बलवंत सिंह बेदह चतुर और जाबाज़ व्यक्ति थे। वे अपने हितों के लिए किसी को भी धोखो दे सकते थे और तत्कालीन-राजनीतिक, सामाजिक स्थिति की मांग भी यही थी। इसके बिना कोई राजा तालुकेदार या ज़मींदार अपनी स्थिति को बरक़रार नहीं रख सकता था। बलवंत सिंह हाथ में आया कोई मौक़ा चूकते नहीं थे।"[1] काशिराज बलवंत सिंह की पहली पत्नी गुलाब कुंवर का कोई पुत्र नहीं था केवल एक पुत्री थी, जो तिरहुत में सिरसा के ज़मींदार दुर्ग विजय सिंह से ब्याही गई। पन्ना बलवंत सिंह की रखैल थीं या पत्नी इसके बारे में काफ़ी विवाद रहा है, लेकिन पन्ना के पुत्र चेतसिंह को वैधानिक उत्तराधिकार नहीं मिल रहा था। बलवंत सिंह, पन्ना और चेतसिंह को ही लेकर शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र' ने 'बहती गंगा' की पहली कहानी 'गाइये गणपति जगवंदन' की रचना की। बलवंत सिंह अपने भतीजे मनियार सिंह को खूब मानते थे और अपने दाह संस्कार से लेकर गद्दीनशीनी तक की वैधता मनियार सिंह को ही दे रखी थी। मनियार सिंह दरबार की राजनीति से बे-ख़बर रहा करते थे। मनियार

1. *बच्चन सिंह—'काशी का इतिहास'—'गांडीव-दैनिक'-23.11.03*

सिंह ने अपनी कृपा से औसान सिंह को सामंत बना दिया था। यही औसान सिंह और चेतसिंह ने गुपचुप तरीक़े से गद्दी पर बैठने की योजना बनाई थी। इसके लिए औसान ने नवाब वज़ीर को बाईस लाख रुपये गद्दीनशीनी के लिए और मालगुज़ारी में ढाई लाख की बढ़ोतरी पर रज़ामंद कर लिया था। जिस समय मनियार सिंह राजा के अंतिम संस्कार के लिए मणिकर्णिका घाट गए हुए थे, उसी समय औसान सिंह ने रामनगर के क़िले पर अपना पहरा बैठा दिया और फ़ौजी सरदारों से मिलकर ख़ज़ाना दख़ल कर लिया। चेतसिंह गद्दी पर बैठा दिए गए, तोपों की सलामियां हुईं और सभी ने उन्हें नज़राना पेश किया। मनियार सिंह जान बचाने के लिए नेपाल भाग गए। इस तरह चेतसिंह का राज्याभिषेक हुआ और औसान सिंह दीवान नियुक्त हुए, लेकिन दरबार और बिरादरी के बहुत से लोग चेतसिंह को स्वीकार नहीं कर सके। ईस्ट इण्डिया कंपनी चेतसिंह से दोस्ती चाहती थी। असल में बनारस उनके लिए संधिस्थल था अतः बनारस में उन्हें एक ऐसे राजा की ज़रूरत थी, जो बिना किसी विरोध के अंग्रेज़ों की बातें माने और उन्हें अपना काम करने दे। जब से बनारस चेतसिंह के हाथ में आया था, चेतसिंह ने अपनी सेना का नवीनीकरण शुरू कर दिया था। उस समय काशी की स्थिति भी स्वतंत्र थी। यही बातें अंग्रेज़ों को सालती रहती थी। चूंकि अंग्रेज़ों को वहां कई कार्यों का जायज़ा लेने में सुविधा होती थी, इसलिए उन्हें काशी की ज़रूरत थी। काशी को कब्ज़े में लेने के लिए वॉरेन हेस्टिंग्स को गवर्नर चुना गया। पहले तो चेतसिंह के विरोध में उसने एक फ़रमान जारी किया–

1. गवर्नर जनरल ने पांच लाख रुपयों के लिए जो हुक्म दिया था, उसको न मानकर उसी रुपयों से चेतसिंह ने सेना एकत्र की और अपने ज़मीदारों और आमिलों को इकट्ठा किया।
2. जब कर्नल कार्नक मराठों से लड़ रहे थे, तो राजा ने समय पर रुपये नहीं भेजे, इसलिए कर्नल को सहायता नहीं मिल सकी।
3. जब राजा से सिपाही मांगे कए, तो उन्होंने भेजने में देर की, इसलिए जिस काम के लिए उनकी ज़रूरत थी, वह न हो सकी।
4. उनका अनुचित व्यवहार कई सिपाहियों और अन्य लोगों की मृत्यु का कारण बना।

इस तरह अंग्रेज़ों ने काशी पर आक्रमण किया, जिसका नेतृत्व वॉरेन हेस्टिंग्स कर रहा था। पहले आक्रमण में तो हेस्टिंग्स को मुंह की खानी पड़ी। चेतसिंह ने हेस्टिंग्स को मारने के दो-दो मौक़े गंवाएं। माधोदास के बाग़ जो कई इमारतों और जहाजों से घिरा था, जहां मुक़ाबला आसान था, जब हेस्टिंग्स वहां छुपा था और चुनार भागने की तैयारी में था तब भी चेतसिंह ने वहां धावा नहीं बोला। डॉ. मोतीचंद्र लिखते हैं—"यह बात समझ में नहीं आती कि चेतसिंह के आदमियों ने उस समय भी हेस्टिंग्स पर हमला क्यों नहीं बोल दिया। अगर वे ऐसा करते तो साहब बहादुर को जान के लाले पड़ जाते।"[1] जो भी हो हेस्टिंग्स के चुनार भाग जाने से बनारसियों को एक कहावत ज़रूर मिल गई, जिसे आगे चलकर 'रुद्र काशिकेय' ने 'बहती गंगा' की दूसरी कहानी का शीर्षक बनाया—

"घोड़े पे हौदा और हाथी पर जीन,
जल्दी से भाग गया वॉरेन हेस्टिंग्स।"

लेकिन इस घटना से इतना तो पता चलता है कि चेतसिंह कुशल योद्धा नहीं थे। उन्होंने लड़ाई का मोर्चा नहीं सम्भाला। वॉरेन और अवध के नवाब आसफद्दौला को खुश रखने में ही लगे रहे। शिवाला घाट की लड़ाई में बनारस की जनता ने एकजुटता से अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ा दिए और जब अंग्रेज़ हारकर भाग गए तो चेतसिंह उनका पीछा करने के बजाय शिवाले की खिड़की से कूदकर नाव द्वारा रामनगर क़िले की तरफ़ भाग लिए। बनारस की जनता का साहस हर कहीं मिलता है—"चेतसिंह लड़े और बनारस जनता भी लड़ी और बहुत अच्छा लड़ी, परन्तु लड़ाई के उपकरणों का हाल यह था कि प्रशिक्षित सिपाही तक साथ न थे। सेना तो क्या क़िले की रक्षा के लिए भी कुछ नहीं था।"[2]

18वीं शताब्दी में उथल-पुथल के बाद बनारस पुनः व्यापार का केंद्र हो गया था। यहां वे महाजन देशी रियायतों के अलावा कंपनी सरकार को भी क़र्ज़ देते थे और उनका सीधा संपर्क गवर्नर से होता था। इन महाजनों के नाम से बनारस ने मुहल्ले बसे हुए थे जो आज भी हैं—जैसे—गोपाल दास के वंशजों का मुहल्ला 'साव जी का मुहल्ला

---

1. *डॉ. मोती चंद्र, 'कांशी का इतिहास', प्र. सं.-1962, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई*
2. डॉ. सम्पूर्णानंद—"काशी निवासियों का अंग्रेज़ों से युद्ध', नागरी प्रचारिणी सभा वराणसी, पृ.-28

कहलाया। बनारस के महाजनों में फतहचंद के पौत्र भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। इनकी बहुत अच्छी ख्याति थी। इन महाजनों का मज़बूत संगठन था। ये अंग्रेज़ी रियासतों को क़र्ज़ देकर अपनी मुट्ठी में रखते थे फिर भी अपने फ़ायदे के लिए ये कभी अंग्रेज़ों के तरफ़दार होते तो भी अन्य लोगों के। बनारस की बहुत बड़ी संख्या चेतसिंह को पसंद नहीं करती थीं। अंग्रेज़ों और चेतसिंह की दुश्मनी में इन महाजनों ने भी ख़ूब फ़ायदा लिया और बाद में अंग्रेज़ों के साथ मिलकर बलवंत सिंह के नाती महीप सिंह को गद्दी पर बिठाया। बनारसवासी किसी क्षत्रिय को नहीं बल्कि भूमिहार को राजा बनाना चाहते थे और यह गुण चेतसिंह में नहीं था। इस उलट-फेर का फ़ायदा निश्चित रूप से अंग्रेज़ों को मिला। पहले काशी में जहां वह परगना थे, जिसके अन्तर्गत बनारस, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, ग़ाज़ीपुर और बलिया आते थे, वहीं अब मात्र दो परगना रह गए, जिनमें चकिया और भदोही प्रमुख थे।

उधर पपीता और लतीफ़पुर का क़िला हाथ से निकलने के बाद चेतसिंह विजयगढ़ चले गए। अब वह काशिराज नहीं थे। अपनी अकूत दौलत और ख़ज़ाना लेकर चेतसिंह रीवा की तरफ़ भागे और अपना परिवार और स्त्रियों को विजयगढ़ में ही छोड़ दिया इस बीच अंग्रेज़ी फ़ौज विजयगढ़ की ओर कूच कर गईं। क़िले में अपने परिवार की महिलाओं के साथ अकेली रह गईं चेतसिंह की मां राजमाता पन्ना ने हेस्टिंग्स को पत्र लिखा कि वे क़िला ख़ाली कर देंगी, लेकिन उन्हें कोई हाथ न लगाए।

राजमाता ने अच्छा षड्यंत्र रचा था लेकिन वह नाक़ामयाब रहीं। इधर चेतसिंह अपना आधा धन रिश्वत में बांट चुके थे। उन्होंने सिंधिया के पास दूत भेजकर मदद की गुहार की, लेकिन सिंधिया भी खुलेआम उनकी मदद न कर सके। सिंधिया की नज़र भी चेतसिंह के धन पर ही थी। झूठी आशाओं का दिलासा देकर सिंधिया के चेतसिंह की मां और परिवार की अन्य स्त्रियों को पांच लाख रुपए देकर बनारस के राजमहल में रखा। इसी बीच हेस्टिंग्स ने अवकाश ग्रहण किया चेतसिंह के भीतर गद्दी का मोह फिर ज़ोर मारने लगा, लेकिन नए गवर्नर ने इस मामले में बिल्कुल दिलचस्पी नहीं दिखाई। अंततः चेतसिंह इतिहास के गर्त में चले गए। उनका अंत कैसे हुआ, इस बारे में इतिहास मौन है। इतिहासकार मानते हैं कि बनारस की बग़ावत के बाद अगर वे सेना का संचालन ठीक ढंग से करते तो हेस्टिंग्स को अपनी जान गंवानी पड़ती। इसका

नतीजा भारतीय इतिहास पर क्या पड़ता, नहीं कहा जा सकता, लेकिन चेतसिंह अमर हो गए होते। उन्हें अपना आख़िरी जीवन एक भगोड़े के रूप में बिताना पड़ा। विजयगढ़ में स्त्रियों को छोड़कर भाग जाना उनकी बहुत बड़ी कायरता थी। शिवाला घाट की लड़ाई के लिए हेस्टिंग्स ने लिखा है—"अगर उस समय चेतसिंह भागे न होते और माधेदास के बग़ीचे पर हमला बोल देते तो मैं ज़रूर मारा जाता' और इस तरह चारों तरफ़ बग़ावत फैल जाती और हेस्टिंग्स मारा जाता। चेतसिंह इतिहास में एक अप्रतिम योद्धा के रूप में दर्ज़ होते। आगे चलकर हेस्टिंग्स ने क़ानून और व्यवस्था में बहुत सुधार किया, जो चेतसिंह के समय में अव्यवस्थित थीं। हेस्टिंग्स ने पुलिस, फ़ौजदारी और दीवानी मुक़दमों के लिए अलग-अलग विभाग खोले और इन विभागों को उसने अली इब्राहिम खां के मातहम कर दिया।

सन् 1809 में बनारस में हिंदु-मुसलमानों का दंगा फैल गया। कहीं कोई भी सुरक्षित नहीं रहा। इसी तरह 1817 में हाउस टैक्स लगाने के विरोध में एक और हिंसात्मक आंदोलन हुआ। 1852 में बनारस में नागरों ने प्रवेश किया, जिसमें काफ़ी लूट-पाट और उथल-पुथल हुई। इसी के पांच वर्ष बाद जब उत्तर भारत में ग़दर हुआ तब बनारस में 37वीं पल्टन ने विद्रोह कर दिया। इस राजनीति का फ़ायदा उठाकर कुछ मुसलमानों ने विश्वनाथ मंदिर पर हरी झंडी दिखाकर दंगा फैला दिया। इस तरह यह समय काशी के लिए भारी उलट फेर का रहा है। 1857 के बाद यहां कंपनी का राज्य भी समाप्त हो गया और भारत का प्रशासन सीधे ब्रिटेन के हाथ में आ गया।

अंग्रेज़ी शिक्षा का पहला विद्यालय जयनारायण स्कूल 1818 में खुला। जयनारायण घोषाल ने भारतीय विद्यार्थियों में अंग्रेज़ी, विज्ञान और अन्य यूरोपीय विद्या का प्रचार प्रारंभ कर दिया। यहीं से काशी में पश्चिमी संस्कृति की मज़बूत नींव पड़ी। क्वींस कॉलेज की स्थापना हुई और आगे चलकर राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' और आर्य समाज के सहयोग से अंग्रेज़ी शिक्षा का फैलाव और भी बढ़ा। आर्य समाजियों ने वैदिक शिक्षा के साथ अंग्रेज़ी का भी समर्थन किया। इन्होंने काशी में डी. ए. वी. स्कूल (दयानंद एंग्लो-वैदिक) खोले।

काशी की धारा में अनेकों विचार मिलते रहे लेकिन इसका मूल वैसा ही रहा। आधुनिकता के चाकचिक्य में इस नगर को लंदन-न्यूयार्क बनाने की भी ख़ूब चेष्टा की

गई और आज भी सौंदर्यीकरण के बहुत से अभियान यहां चलते रहते हैं लेकिन यह नगर लंदन-न्यूयॉर्क बनकर रह ही नहीं सकता। इसकी प्राचीनता में ही इसकी प्राणवत्ता है। प्राचीनता के परिपोषक इस नगर के प्रति लोगों को रोष हो सकता है, नगर की मध्यकालीन बनावट और गंदगी के प्रति भी लोगों का रोष स्वाभाविक है बावजूद इसके उस सभ्यता का सर्वदा परिपोषक रहा है जिसे हम आप 'भारतीय सभ्यता' कहते हैं। यह बात और है कि सभ्यता, संस्कृति और धर्म के नाम पर कुछ लोग इस पवित्र नगर को बदनाम करते हैं और अपना उल्लू सीधा करने में लगे हुए हैं। ऐसे में इसी नगर के निवासी कबीर की याद स्वाभाविक है:–

"कहां हो हमारे कबीरदास?
धर्म का मुखौटा पहनकर अनगिनत लोग
यहां कर रहे हैं बस स्वार्थ-नृत्य
ऐसे में बोलो
तुम चुप न रहो
कहो अपनी आंखिन की देखी, ओ सत्यवीर
हारो मत हिम्मत,
पुकारो–
कि कहीं कोई साधे आ जाय
बन जाय तुम्हारे लुकाठी की ताक़त।"[1]

बनारस के दूसरे राजनीतिक आंदोलन की शुरुआत 'बंग-भंग' (1905) से होती है। उन दिनों बनारस में लगभग एक तिहाई भाग बंगाली समुदाय का था। बंगाली षड्यंत्रकारी और क्रांतिकारियों को यहां छिपने का अच्छा स्थान मिल जाता था क्योंकि यहां आने के लिए कलकत्ता से बनारस तक का रेलमार्ग और सड़क मार्ग दोनों सरल थे। इन बंगालियों का बनारस के सामाजिक और राजनीतिक विकास के बहुत बड़ा योगदान रहा है। बंगाली टोला कांग्रेस कमेटी में जितेंद्र लाहिड़ी, तारानाथ भट्टाचार्य, रामगति गांगुली और माखन लाल बनर्जी नमक सत्याग्रह और आंदोलनों में सक्रिय रहे। काकोरी कांड

---

1. *राकेश रंजन–'कवि का वक्तव्य'–'जनपद-हिंदी कविता का अर्धवार्षिक बुलेटिन–निर्मल कुमार चक्रवर्ती, जनवरी-जून-2001, पृ.-7'*

शचींद्रनाथ सान्याल और मन्मथ नाथ गुप्त जैसे लोगों के दिमाग़ की ही उपज थी।

बनारस से ही महाराष्ट्रीय दल ने भी नवजागरण की बात उठाई। उन दिनों यहां तिलक की विचारधारा से सर्वाधिक लोग प्रभावित थे। महाराष्ट्र में सर्वश्री महादेव गोविंद रानाडे और तैलंग कांग्रेस के समर्थक थे। इसी समय वीर सावरकर भी आए, जिनका आदर्श था—'हिंदू पद पादशाही'।

असहयोग आंदोलन के समय महात्मा गांधी ने यहां 'काशी विद्यापीठ' की स्थापना की जो युवा कार्यकर्त्ताओं का केंद्र हुआ करता था। क्रांतिकारी और गांधीवादी दोनों के लिए इसके दरवाज़े खुले रहते थे। इस काम में 'सेवा उपवन' नगवा में भी काफ़ी सहयोग किया। इधर 'ख़िलाफ़त आंदोलन' में मुसलमानों ने भी बड़ी तादाद में भाग लिया। 'भारत छोड़ो आंदोलन' का भी ज़ोर चल रहा था और 'घानापुर कांड' हो गया। घानापुर कांड में मन्नीसिंह, सागर सिंह और हरनारायण लाहिड़ी को फांसी की सज़ा हुई।

हिंदी क्षेत्र में पुनर्जागरण की पहली सशक्त अभिव्यक्ति बाबू भारतेंदु के व्यक्तित्व से होती है। भारतेंदु और उनके मंडल का प्रधान केंद्र काशी ही रही है। भारतेंदु का व्यक्तित्व संक्रांतिकालीन चेतना का रूप है। कविता के लिए वह ब्रजभाषा की मिठास अपनाते हैं और गद्य के लिए खड़ी बोली के खरेपन को। 'अंधेर नगरी' जैसे अनेकों रचनाओ से शासन-सत्ता के अंधेपन और अंधेरगर्दी का तीखा संकेत मिलता है जिसका तात्कालिक संबंध ब्रिटिश राज्य से है। 'ले हिंदुस्तान का मेवा, फूट और बैर' मानो सूत्र रूप में सारे हिंदुस्तान का इतिहास बयान करती है अंग्रेज़ी राज के प्रति एकदम सीधा और क़ानून की पकड़ में न आने वाले संकेत भारतेंदु ने ख़ूब जमकर दिए हैं:—

'अंधाधुंध मच्यो सब देसा, मानहुं राजा रहत विदेसा।''

यह शुरूआत जो काशी में हुई तो थमी नहीं। प्रेमचंद और प्रसाद जैसे साहित्यकारों ने काशी से ही अपने साहित्यिक जीवन की शुरूआत की। शंभुनाथ सिंह, केदारनाथ सिंह और त्रिलोचन शास्त्री जैसे कितने ही रचनाकारों को काशी की भूमि कच्चा माल देती रही है। लेकिन अब स्थिति वैसी ही नहीं रही। सभा और हिंदू विश्वविद्यालय का विच्छेद जग-जाहिर है। शेष साहित्यिक कार्य भी कछुवा धर्म को अपनाए हुए हैं। ऐसे में बनारस का मुक़म्मल चित्र नहीं बन पा रहा है। दिल्ली की ओर देखने की प्रवृत्ति ने बनारस को और भी व्यर्थ बना दिया है। ''बनारस के साहित्य के वे बहुत बुरे दिन थे जब आचार्य

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और डॉ. नामवर सिंह को बाहर जाना पड़ा। इससे वाराणसी का साहित्य मूल और विस्तार, प्राचीनता और आधुनिकता दोनों से ही कट गया।''[1] फिर भी काशी अपने में इतना कुछ समेटे है कि उसे किसी भी पक्ष से नकारना मुश्किल ही नहीं असंभव है। कहीं वृक्षमूल खाकर रहने वाले मुमुक्षु सन्यासी कहीं ब्रह्मज्ञानी तो कहीं वेश्याएं यहां के नागरिक हैं। कहीं सुस्वादु भोजन, केसर-पिस्ता-बादाम और फलों की सुगंधित ठण्डई है तो कहीं मांग और बूटी छन रही है। 'चना-चबेना गंग जल' वाले जीवन दर्शन के यहां अनेकों पहलू हैं। इसलिए काशी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की समन्वय भूमि कहलाई किंतु मोक्ष-मोक्ष की रट लगाए गंगा किनारे के तिलकधारी पोंगा पंडितों के पीछे की राजनीति से काशीं दूषित हो चुकी है। यह सिक्के का बहुत घिनौना पहलू है। इस पहलू को उजागर करने वालों की स्थिति काशीवासी वही करते हैं जो 'वॉटर' फ़िल्म की निर्देशक दीपा मेहता का हुआ था। धर्म और संस्कृति की उन्मादता बनारसियों की बहुत बड़ी कमज़ोरी है :–

''एक मुल्क है अजीब
ताक़त और मज़हब के नशे में धुत्त
बड़बड़ाता हुआ
अपने ही अंदर की चीज़ों से पिटा हुआ
बार-बार बाहर दरवाज़े पर हमारे
अपनी क्षमताओं की कै कर-कर जाता हुआ।''[2]

जबकि सब जानते हैं कि बनारस और शहनाई का पुराना नाता है। इस शहनाई को बनारस ने मज़हब से ऊपर उठकर गढ़ा है। कोई भी संस्कार हो–वह चाहे गंगा पुजैया में मौनहारिनों की संगत हो, चाहे होली में कसेरों के साथ दंगल, शहनाई कहीं नहीं छूटी। सावन झूले में यदि वह पिपहरी बनकर गूंजती है तो मुहर्रम में आंसू का दरिया बहाती है। इस शहनाई को पुख़्तगी मिली है–उस्ताद बिस्मिल्ला खां साहब से, वहीं खां साहब जो शुरू से काशी के विश्वनाथ मंदिर में अपने फ़न की मिठास घोलते आए हैं और आज संसार भर में इस मिठास की कोई सानी नहीं है।

---

1. *डॉ. युगेश्वर–'हिंदी साहित्य और वाराणसी', सन्मार्ग-वाराणसी विशेषांक–संपा. डॉ. कौशल किशोर मिश्र, पृ.-230*
2. *राकेश रंजन–'कवि का वक्तव्य', 'जनपद–हिंदी कविता का अर्धवार्षिक बुलेटिन' निर्मल कुमार चक्रवर्ती, जनवरी-जून 2001, पृ.-7*

चर्चित कथाकार अपनी बेधड़क भाषा से काशी के अस्सी की शक़्ल यूं बनाते हैं —"अस्सी बनारस का मुहल्ला नहीं। अस्सी 'अष्टाध्यायी' है और बनारस उसका भाष्य। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों से 'पूंजीवाद' के पगलाए अमरीकी....यहां आते हैं और चाहते हैं दुनिया इनकी टीका हो जाय। मगर चाहने से क्या होता है? अगर चाहने से होता तो पिछले खाड़ी युद्ध के दिनों में अस्सी चाहता की अमरीका का 'ह्वाइट हाउस' मुहल्ले का सुलभ शौचालय हो जाय।"[1]

जिस वर्गहीन समाज को लेकर 'मार्क्सवाद' आया, काशीनाथ बनारस को उस वर्गहीन समाज का सबसे बड़ा-जनतंत्र भी मानते हैं—"गुरु यहां की नागरिकता का 'सरनेम' है। न सिंह, न पांडे, न जादो, न राम। सब गुरु।"[2]

सांड सीढ़ी और सन्यासियों के इस नगर का इतिहास न केवल राजनीतिक है बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक भी है यदि हम देखें तो प्राचीनता और परंपरा का पूरा दर्शन हमें यहां मिलेगा और यदि हम इसे फिर देखें तो आधुनिकता को आधुनिक बनाने वाले हथियारों से लैस हैं यह नगर :—

"चना, चबेना और गंगाजल जब तक मिलता रहे तब तक कोई भी बनारस छोड़कर नहीं जाना चाहता। दुनिया में शायद ही कोई शहर होगा, जो दो पत्ती भांग मुट्ठी भर चना और एक जोड़ी अंगोछी में अपनी ज़िन्दगी बिता दे। इसी शानदार अंगोछा संस्कृति से आकृष्ट होकर विदेशी 'हिप्पी' आज भी काशी में आते हैं। यदि यह कहा जाय कि ये 'हिप्पी' बनारसी लोगों के भोंडे अनुकरण है या असंस्कृत संस्करण हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी।"[3]

लेकिन अपनी धर्म, संस्कृति और अतीत को ही महिमामंडित करते रहना अपने भीतर की कमज़ोरियों को छुपाना है। इससे काशी यथार्थ से बहुत दूर चली जाती है। इसी अतीत को मोहरा बनाकर कुछ भोंडे लोग अपनी हीन-भावनाओं को तुष्ट करने में लगे हुए हैं। उनके लिए काशी केवल मोक्षदायिनी काशी है, हमारे लिए नहीं—

---

1. *काशीनाथ सिंह—'याद हो कि ना याद हो', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-158-159*
2. *वही*
3. *भैयाजी बनारसी—'देखी तुमरी कासी'—इटैक उत्तर प्रदेश पत्रिका-वर्ष-1 अंक-3, पृ.-19*

"जिस तरह तमाम लोग मोअ के लिए आते हैं यहां। उसी तरह रोटी की खोज में भी आते हैं तमाम लोग" यह देखो मेरी काशी है। वे लोग और हैं जो केवल काशी-वाराणसी संज्ञा की रट में लगे हुए हैं, मगर क्या क्रिया रहित संज्ञा का कुछ मतलब है?

"किसी अलक्षित सूर्य को
देता हुआ अर्ध्य
शताब्दियों से इसी तरह
गंगा के जल में
अपनी एक टांग पर खड़ा है यह शहर
अपनी दूसरी टांग से
बिल्कुल बेख़बर।"[1]

---

1. *केदार नाथ सिंह–'बनारस'–प्रतिनिधि कविताएं–संपा. परमानंद श्रीवास्तव राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-31*

तीसरा अध्याय

'बहती गंगा' में काशी का जनजीवन

- कथा कहानी बानी जुबानी और काशी की कहानी
- संत असंत घोघा बसंत
- उच्चवर्ग का ढोंग और मध्यवर्ग का पोंग

लेखक और जनता का संबंध केवल लेखक और पाठक का संबंध नहीं होता। जनता की जो विभिन्न श्रेणियां हैं वह ऊपर से कितनी भी निष्क्रिय या ढुल-मुल क़िस्म की क्यों न लगती हों, वर्ग संघर्षों, राष्ट्रीय और जातीय पूर्वग्रहों और मानवता के जीवन में अपनी अनिवार्य गति से आगे बढ़ते हुए इतिहास की विरासत को वह आंदोलित ज़रूर करती है। इसी जनता के बीच से लेखक अपने पात्रों को चुराता है, और उसे पाठक भी यहीं से मिलते हैं, इसलिए पात्र, पाठक और लेखक का रिश्ता बड़ा पेचीदा हो जाता है, लेकिन लेखक को प्रथमतः और अंततः इसी जनता के बीच आना पड़ता है जिसका हिस्सा वह ख़ुद भी है। हिंदी साहित्य में प्रेमचंद पहले रचनाकार है, जिन्होंने सही मायने में कथा-साहित्य में प्रयोगधर्मिता की शुरूआत की और उपन्यास के समूचे कैनवास पर सामाजिक यथार्थ को केवल शक़्ल ही नहीं दी बल्कि उसमें रंग भी भरा। साथ ही यह भी स्थापित किया कि कटु यथार्थ भी मनुष्य को उतना ही मुग्ध कर सकता है जितना कल्पना, रोमांच का जादू भरा संसार। प्रेमचंद ने उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र' माना और मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना एवं उसके रहस्यों को खोलना उपन्यास का मूल-तत्व बताया। इस तरह समाज के उपेक्षित, तिरस्कृत और अछूते चरित्रों और क्षेत्रों को उन्होंने अपने उपन्यासों का विषय बनाया। आगे चलकर प्रेमचंद की राह पर चलने वाले उपन्यासकारों ने जितने भी प्रयोग किए उन्हें जन्म देने का दारोमदार मानवीय समाज की आवश्यकता ही थी, क्योंकि पूरी समग्रता और संपूर्णता से मानव-जीवन को लेकर चलने के कारण ही उपन्यास हर किसी के जन-जीवन से गहरे रूप में जुड़ा था। 'बहती गंगा' का रचनाकार जब लिखता है :—"जीवन गंगा की धारा भी गंगा के समान ही पवित्र है। यदि उसमें एक ओर सड़ी-गली लाशें हैं, अवर्जना का स्तूप है, उसके तल में हिसंक जंतु हैं, तो उसी के साथ दूसरी ओर उसमें शीतलता है, पवित्रता है और व्यापक उपयोगिता है।"[1] लेखक केवल शीतलता और पवित्रता से ही संतुष्ट नहीं है। भागीरथी गंगा को पकड़ने के लिए उसे

1. *रुद्र काशिकेय—'बहती गंगा'—संदर्शिका से*

सड़ी-गली लाशें और अवर्जना के स्तूप भी उतने ही ज़रूरी लगते हैं। इन सभी को मिलाकर जीवन रूपी गंगा की पवित्रता बनती है। ध्यान देने की बात यह भी है कि शीतलता और पवित्रता के साथ लेखक 'व्यापक उपयोगिता' को भी लेता है। काशीवासियों के लिए गंगा 'मइया' इसलिए भी है क्योंकि गंगा का जल वहां के लोगों के लिए 'जीवन-जल' है केवल पवित्र 'गंगा-जल' ही नहीं। जीवन-रूपी गंगा भी उपयोगी होने पर ही सार्थक है। इस तरह व्यापक उपयोगिता का उल्लेख लेखक की यथार्थवादी दृष्टि का परिणाम है। इसलिए रुद्र जी गंगा या काशी के बखान से ऊपर उठकर विचार के स्तर पर समूची काशी को अलग ढंग से खड़ी करते हैं। यहां के जनजीवन में वह भावात्मक लगाव ज़रूर महसूसते हैं लेकिन बौद्धिकता के स्तर पर उनमें विचारों का एक ठोस भराव है:—"कलाकार नहीं जानता कि जीवन के बारे में वह क्या सोचे किंतु कलाकार जब तक जीवन के बारे में कुछ सोचने का साहस नहीं करता तब तक वह जीवन की रचना भी नहीं कर सकता अमहत्वपूर्ण लोगों का एक छोटा सा चित्र वह बना सकता है या किसी निर्दोष-सी भावना को लेकर बहुत ही सफ़ाई से बाल की खाल निकाल सकता है, किंतु बिना विचार के वह जीवन की रचना नहीं कर सकता।"[1] रेणु और नागार्जुन ने भी अपने उपन्यासों में मिथिला से पानी माटी, पहली वर्षा के बाद धानों के अंकुर, आमों से लदी अमराइयां, घौंदों पर लटके पकने को आतुर जामुन, गुलाबी फल भार से विनम्र लीची की तुनुक टहनियां, श्याम-सलिल-पोखर, ग्रीष्म की संजीदा और बरसात की बढ़ी हुई नदियों के अलावा भी बहुत कुछ लिया है। रेणु 'मैला आंचल' के संदर्भ में पहले ही स्पष्ट करते हैं—"इसमें फूल भी है शूल भी, धूल भी है, गुलाल भी, कीचड़ भी हैं चंदन भी, सुंदरता भी है कुरुपता भी। मैं किसी से दामन बचाकर नहीं निकल पाया।"

'बहती गंगा' में जिस जीवन की झांकी मिलती है वह मूलतः निम्नवर्ग से संबंधित है। यहां छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, मालिक-मजदूर, साक्षर-निरक्षर, हिंदू-मुसलमान-सब एक ज़मीन पर खड़े हैं। प्रसाद अपनी कहानी 'गुण्डा' में लिखते हैं—"ईसा की 18वीं सदी के अंतिम भाग में वही काशी नहीं रह गई थी, जिसमें उपनिषद् के अजातशत्रु के परिषद्

1. *रैल्फ़ फॉक्स 'उपन्यास और लोकजीवन', पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ.-138*

में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए ब्रह्मचारी आते थे।'' पवित्रता और छुआछूत के क़हर में वैष्णव धर्म की उस विशृंखलता में नवागंतुक धर्मोन्माद में अपनी असफलता देखकर काशी में अघोर रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्रबल के सामने झुलते देखकर काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने एक नवीन संप्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था, अपनी बात पर मर मिटना, सिंह वृत्ति की जीविका ग्रहण करना, प्राण-भिक्षा मांगने वाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्द्वी पर शस्त्र न उठाना, सताए हुए निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिए घूमना उनका बाना था। उन्हें लोग काशी में 'गुण्डा' कहते थे।''[1] यह 1792 की काशी है जब काशी की पतनशील सामंतवादी संस्कृति ने इन 'गुण्डों' को जन्म दिया। ये गुण्डे जनता के तो प्रिय थे लेकिन व्यवस्था से उपेक्षित। तलवार, बिधुवा, गंड़ासा, कटार, खांडा, अखाड़ा इनकी कमाई थी और घुंघराले बाल, नोंकदार मूंछों, रतनार आंखों और गेरुए वस्त्र से ही इनका परिचय होता था। ये जितना अंग्रेज़ी हुकूमत से घृणा करते थे उससे भी कहीं ज़्यादा देशद्रोहियों से। चतुरसेन शास्त्री ने एक कहानी में बड़े व्याख्यात्मक लहज़े में गुण्डों का परिचय देते हैं—''कभी-कभी बनारस चला आया करता हूं। मित्र-मंडली भी काफ़ी जुट गई है। मित्रों में न कोई नेकनामी लीडर है, न नामी-ग्रामी वकील, न कोई रईस। कुछ नौजवान दोस्त हैं। उन्हें लोग 'गुण्डा' कहकर बदनाम करते हैं पर मुझे उनकी सोहबत चंद्रोदय, मकरध्वज, च्यवनप्राश और मदनमंजरी वटी से ज़्यादा ताक़त देने वाली साबित हुई है।''[2] 'बहती गंगा' में भंगड़ भिक्षुक और तलवरिया दाताराम नागर इन्हीं गुण्डों के रूप में हमारे रू-ब-रू होते हैं। 1772 की काशी में कुबरा मौलवी बनकट मिसिर और फ़ैयाज़ अली जैसे ग़द्दार भिक्षुक और नागर के शिकार बने हैं। इन पात्रों को खींचने के लिए लेखक संगीगात्मक लहज़ा अपनाता है और अपनी कहानियों का शीर्षक कजरी, ठुमरी, लावनी

---

1. *जयशंकर प्रसाद—'गुण्डा'—संपा-जैनेंद्र कुमार—'तेईस हिंदी कहानियां' लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.-40-41*
2. *आ. चतुरसेन शास्त्री—'दुखवा कासे कहूं' (पीर नाबालिग), राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली-1968, पृ.-242*

आदि के प्रसिद्ध मुखड़ों से करता है। ये मुखड़े अनायास ही नहीं बल्कि इनका अन्तरा इन कहानियों में छुपा हुआ है :–

1. गाइए गणपति जगबन्दन – (लगभग 1750)
2. घोड़े पे हौदा और हाथी पर जीन (1780)
3. नागर नैया जाला काला पनिया रे हरी (1800)
4. सूली ऊपर सेज पिया की (1805)
5. आए आए आए (1810)
6. अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी (1858)
7. रोम-रोम में वज्रबल (1875)
8. शिवनाथ-बहादुर सिंह का ख़ूब बना जोड़ा (1880)
9. एहिं ठैंया झुलनी हेरानी हो रामा (1921)
10. रामकाज छनभंगु सरीरा (आधुनिक काल)
11. एहि पार गंगा ओहि पार जमुना
12. चैत की निंदिया जिया अलसाने
13. इस हाथ दे उस हाथ ले
14. दिया क्या जले जब जिया जल रहा
15. नारी तुम केवल श्रद्धा हो
16. मृषा न होई देव रिसी बानी
17. सारी रंग डारी लाल-लाल

यह उपन्यास काशी के इतिहास के अंदर कुलांचे भरती हुई काशी की जनता की भ्रम जालिक-भंगिमाओं का उपन्यास है, जो आधुनिकता के चेतन-संघर्ष से जुड़े हुए प्रत्यय की भी घोषणा करता है, जिसमें संघर्ष की अनवरत प्रक्रिया है। अपनी कलात्मक उपलब्धियों के अन्तर्गत यह उपन्यास न केवल रचना गठन में अभूतपूर्व है बल्कि मानवीय समष्टि की एक विशिष्ट और ऐतिहासिक गतिविधि का कथांकन भी है, जिसमें एक-दूसरे से अलग और परस्पर स्वतंत्र लेकिन धारा-तरंग न्याय से आपस में गुंथी-बंधी

सत्रह कहानियां हैं। इन कहानियों में काशी के दो-सौ वर्षों का इतिहास जीवित हो उठा है। इन कहानियों के संदर्भ में लेखक का कहना है—"प्रस्तुत 'बहती गंगा' में सत्रह तरंगे हैं—एक-दूसरे से अलग परस्पर स्वतंत्र परंतु धारा-तरंग न्याय से आपस में बंधी हुई भी हैं। इसी स्थल पर यह बता देना भी अप्रासंगिक न होगा कि 'बहती गंगा' की प्रत्येक तरंग का कोई-न-कोई ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति, प्रथा या कोई परम्परागत जनश्रुति है। जैसे व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है, उसी तरह काशी नगरी का भी अपना व्यक्तित्व है। अद्‌भुत मस्ती, निपट निर्द्वन्द्वता, उत्कट, स्वातंत्र्य प्रेम और प्राचीनतावाद उक्त विशेषता के ही अंग है।"[1] अपनी कहानियों में रुद्र जीवन के तटस्थ चित्र, शक्ति, संवेग और मांसलता को उतारकर भी मुख्यतः अपनी बौद्धिकता की ही छाप छोड़ जाते हैं। यह कहना कि 'काशी का भी अपना एक व्यक्तित्व है' काशी को नायक/नायिका के रूप में संकेत करना है लेकिन वह काशी के बाह्य या शारीरिक पक्ष पर उतना बल नहीं देते जितना आत्मिक पक्ष पर—इसलिए काशी में बसने वाले जन-मानस के क्रमिक विकास पर यहां ज़्यादा ज़ोर है और इसीलिए गंगा बहती है, कहीं ठहरी नहीं है। इस नैरन्तर्य और कल-कल में काशी वासियों की नैसर्गिक खनक है।

काशी की कहानी की शुरूआत हम 'बहती गंगा' की अंतिम कहानी 'सारी रंग डारी लाल लाल' से करेंगे। रुद्र के रुख़ को हम किसी 'वाद' विशेष से नहीं जोड़ सकते। उपन्यास की अंतिम कहानी 'सारी रंग डारी लाल-लाल, चाहें तो हम इसे मार्क्सवाद का जामा पहना दें या फिर स्त्री-विमर्श या मध्यवर्ग के पोंग का खोला, लेकिन इसे इतना सीमित करना कहानी के साथ न्याय नहीं होगा। गुलाबी महफ़िल से शुरू होने वाली इस कहानी का रंग धीरे-धीरे लाल रंग में तब्दील होने लगता है और कहानी का अंत या फिर उपन्यास का अंत लालिमायुक्त वातावरण में ही होता है। अरुणोदय का समय लाल है, वसुधा का सिंदूर लाल है। एक तरफ़ रक्त और आग की लालिमा है तो दूसरी ओर लाल पगड़ी वाली पुलिस भी संकेतात्मक प्रतीक के रूप में आती हैं और ये सारी लालिमा

---

1. *शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र'—'बहती गंगा'—राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली*

मिलकर सुधा के क्रांतिकारी रुख़ का परिचय देती हैं साथ ही उपन्यास के अंत को एक क्रांतिकारी शुरूआत की संभावना से भर देती हैं। यहां ऊँचे सरकारी अफ़सरी में मोटी तनख़्वाह पाने वाले अफ़सर की कम्यूनिस्ट बेटी है और बुर्जुआ संस्कारों के ख़िलाफ़ लड़ने वाले रघुवीर शरण के लाल सदस्यों का कॉमरेड दल है। सत्ता और व्यवस्था का असंतुलन और मध्यवर्ग की खोखली मानसिकता सुधा के इस वक्तव्य से बहुत कुछ ज़ाहिर हो जाती है—"बुर्जुआ संस्कार और प्रोलेतेरियत संस्कार में मुझे कुछ विशेष अंतर नहीं दिखाई देता लल्लन बाबू। एक में हृदय का योग आवश्यकता से अधिक है तो दूसरे में बुद्धि का। पहला स्वार्थ की अधिकता से चिपचिपा हो गया है तो दूसरा प्रतिहिंसा से रुखा।"[1]

जिन बदलते हुए सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों का चित्रण लेखक करता चला है, उसमें पूरा प्रवाह और गतिशीलता है। गतिशीलता, जिसके लिए प्रयत्नशील, संघर्षरत और वर्तमान को सुखद भविष्य में बदल देने की लगन काशी की जनता में है। इसलिए यहां संघर्षरत लोक-जीवन है। इस लोक-जीवन को नई ज़मीन देने के लिए रुद्र इतिहास के कुछ उपेक्षित और सच्चे चरित्रों को चुन-चुनकर उठाते हैं और उन्हें नए रंग-ढंग में ढालकर जीवंतता प्रदान करते हैं। इसके लिए वह वहां की लोक कथाओं, लोक नाट्यों और लोक गीतों से जुड़ते हैं। यह जुड़ाव चिरकाल से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होता आया है। इस तरह परिवर्तन के तमाम पहलुओं से गुज़रता हुआ यह उपन्यास काशी के जनजीवन को प्राणवान बना देता है।

प्रसाद ने 'गुण्डा' में काशी के पुराने गुण्डों के नैतिक मूल्यों को जिस संवेदना से प्रेषणीय बनाया है, रुद्र ने उसी की पृष्ठभूमि पर नागर गुरु और भंगड़-भिक्षुक को तैयार किया है। "गुरु यहां की नागरिकता का सरनेम है।" वैसे आज काशी का यह गुरु देश के विभिन्न हिस्सों में अपनी पैठ बना चुका है। नागर गुरु भी गुण्डा है, जिसने काशी नरेश चेतसिंह के अरमान-सम्मान को बचाया है उसी तरह जिस तरह 'गुण्डा' का नन्हकू चेतसिंह और पन्ना के लिए अपने प्राणों की बलि दे जाता है। यह परंपरा वहीं से आई है। 'नागर नैया जालाकालापनियां रे हरी' में प्रेम-पीड़ा और साहस-वीरता का एक अलग

गल्प रचना गया है। समाज से बहिष्कृत 'सुंदर' को नागर का निःस्वार्थ भाव से प्रश्रय देना और उससे प्रेम करने की भावना ही उसे निहत्थे पर वार न करने का साहस भी देती है। कटार चलाने के पहले वह मिसिर को अपना बिछुवा देता तो, और दुश्मन को अपने दुश्मन पर इतना विश्वास मिसिर कहता है –"मालूम है तुम गुण्डे हो। इतना छोटा काम कभी नहीं कर सकते। "नागर का कालापानी जाना और अपने लिए फांसी का फंदा चुनना उसे अपनी दिशा स्वयं दिखाते हैं, इसलिए वह कंपनी बहादुर के साथ आने के लिए इंकार कर देता है। ज़िन्दगी के गणित का हिसाब करने पर उसे वह सार्थक लगती है। उसे इस जीवन से न असंतोष है, न ही पश्चाताप। निरर्थक पाप-बोध और कुण्ठाग्रस्त पात्र यहां नहीं मिलेंगे। देश प्रेम नागर के समूचे जीवन की कहानी है जिसे सुंदर के प्रेम ने एक मज़बूत आधार दिया है। नागार का ऐसा चरित्र उसके समय और समाज की अपनी बनावट है। अंत में सुंदर की दीवानगी और पागलपन के साथ हृदय की पीर से गाया हुआ उसका गीत सुंदर के साथ पाठकों को भी बेकल बनाता है–"इसके बाद भी बहुत दिनों तक मिर्ज़ापुर निवासी नारघाट की पगली को पैसा देकर उससे यही कजली गवाते और करुणा ख़रीदते रहे। सुनने वालों की आंखें भर आतीं, जब वह कलेजे का सारा दर्द घोलकर गाती–

'अरे रामा नागर नैया जाला कालापनियां रे हरी।'

गुण्डों, कसबिन, रखैलों और वेश्याओं की जीवन-कथा को उपजीव्य बनाकर रुद्र ने उनमें प्रेम-वीरता जैसी भाव-संपदा को जिस तरह से समाहित किया है उससे ये उपेक्षित और बहिष्कृत चरित्र एक अनूठी आभा से मंडित हो गए हैं और इस तरह ये अदम्य साहस, अनुपम प्रेम और निष्ठा के प्राणवान-प्रतीक बन गए हैं। हिंदी कथा साहित्य में प्रेमचंद और जैनेंद्र के कुछ अविस्मरणीय चरित्रों के बरअक़्स 'बहती गंगा' के चरित्रों को भी रखा जा सकता है।

चूंकि ये कहानियां अलग-अलग देश काल का प्रतिनिधित्व करती है इसलिए इन कहानियों का अलग-अलग समाज है। बावजूद इसके 'प्रेम' इन कहानियों को एक ही पृष्ठभूमि पर खड़ा करता है, उसी तरह जैसे अलग-अलग कहानियां मिलकर-जुड़कर एक

उपन्यास का रूप लेती हैं। यदि तत्कालीन काशी के जनजीवन में पैठकर देखें तो यहां प्रेम और वीरता एक दूसरे से गुंथे हुए मिलेंगे।

अलवार रियासत के चारण कुल में जन्मा भंगड़-भिक्षुक, कवित्त-सवैया गाकर ही अपने जीवन की इति श्री नहीं करता है। भिक्षुक 'सूली ऊपर सेज पिया की' कहानी का नायक है, जिसे फांसी की सज़ा की घोषणा हो चुकी हैख लेकिन भिक्षुक अंग्रेज़ों के हाथ अभी नहीं आया है। ईनाम के लिए डोंड़ी पीटी जा रही है और भिक्षुक जनता के बीच बोल रहा है—"पांच सौ कलदार कोई छोटी रकम नहीं। जिसको ईनाम लेने का साहस हो, वो आगे आए।" कहानी में भिक्षुक ने जब छुपकर देखा कि उसकी पत्नी गौरी, हवलदार को दूध का भरा कटोरा दे रही है, तब वह अपना सारा साहस-संयम छोड़कर ईर्ष्या द्वेष की भट्टी में जलने लगता है और एक साधारण सामंती सोच रखने वाले पति या पुरुष के रूप में सामने आता है। उसका एक ग़लत निर्णय उसे अंत तक मथता रहता है, लेकिन वह गौरी के पास अंत तक नहीं लौटता है। भिक्षुक के चरित्र का यह पक्ष तत्कालीन काशी के युवा पुरुषों का सामंती चेहरा भी स्पष्ट करता है। विवाह के दिन से प्रतीक्षारत गौरी के शील और संयम को भिक्षुक का छिछला हृदय नहीं समझ पाता है। अंततः खोह में जलते हुए भिक्षुक की आग की लपटें गौरी को भी अपने में समाहित कर लेतीं हैं। अपने प्रेम की बड़ी भारी अग्नि परीक्षा गौरी को देनी पड़ी है—"भीतर से चंडी के अट्ठहास की तरह गौरी का शब्द सुनाई पड़ा—"सूली ऊपर सेज पिया की, एहि विधि मिलना होय; फिर काठ-कबाड़ और जलते मांस की दुर्गंध बाहर निकलने लगी। अंततः इस तरह गौरी की प्रतीक्षा समाप्त होती है।

भक्तिकाल को जिस एक तत्व 'प्रेम' ने समूचे सामंतवाद के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए अंतःशक्ति दी थी, उसी तत्व ने 'बहती गंगा' के पात्रों को अंग्रेज़ी हुकूमत और उपनिवेशवाद के विरोध में खड़ा किया। इनका प्रेम इनके देश-प्रेम में कहीं भी आड़े नहीं आता बल्कि अंतःप्रेरणा और साहस देता है। 'राम की शक्तिपूजा' के राम रावण से युद्ध के पूर्व सीता का मुख याद करते हैं इस स्मरण से उनकी शक्ति और धैर्य दोनों को एक

आधार मिलता है, जिसके बल पर वह अंधेरे से लड़ने को तैयार होते हैं—ऐसे अंधेरे समय में स्वयं को अवश पाकर राम भी सीता को याद करते हैं—

"लख शंकाकुल हो गए अतुल बल शेष शयन
खिंच गए दृगों में सीता के राममय नयन।"[1]

एक सौ अस्सी पृष्ठों के इस लघु उपन्यास को लगभग सौ पात्र एक मुक़म्मल उपन्यास का रूप देते हैं। इन पात्रों में लगभग ग्यारह प्रेमी-युगल हैं, जिनमें हिंदू-मुसलमान, राजा-गुण्डे, चित्रकार-विद्यार्थी, नेता-मज़दूर, कसबिन-वेश्याएं सब एक साथ शामिल हैं। इस स्तर पर सब एकरस हैं। डॉ. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं—"प्रेम को मौलिक मानवीय भाव कहने का तात्पर्य यह नहीं कि क्रोध, घृणा, भय आदि भाव मौलिक नहीं हैं। इसका केवल यही अर्थ है कि प्रेम वह मूल भाव है जिसके कारण मनुष्य में मनुष्यता सुरक्षित रहती है। व्यक्ति का चित्त उदार होता है और करुणा, दया, सहानुभूति आदि की ओर प्रेरित और प्रवृत्त होता है। प्रेम जीवन दायिनी शक्ति है, जो व्यक्ति और समाज के मानसिक और नैतिक विकास के लिए अनिवार्य है।"[2] आगे वे 'रसेल' को उद्धृत कर प्रेम के और भी व्यापक और विस्तृत रूप की हामी भरते हैं—"प्रेम के दो ध्रुव हैं—आनंद और मंगलविधान। मंगल विधान में पालन के अतिरिक्त संरक्षण की भी प्रवृत्ति और शक्ति होती है क्योंकि मंगल विधान केवल कामना तक ही सीमित नहीं रहकर कर्म का भी प्रेरक होता है।" इसलिए प्रेम पहले देश प्रेम और फिर ईश्वरोन्मुख होकर विश्व-प्रेम तक भी जाता है क्योंकि इस स्तर पर प्रेमी संपूर्ण विश्व में अपने प्रिय की सत्ता की अनुभूति करने लगता है। 'बहती गंगा' के पात्रों का प्रेम साधनावस्था का प्रेम है जो उन्हें कर्म-विमुख होने से बचाता है। इनका व्यक्तिगत प्रेम उन्हें एक-एक सोपान ऊपर की ओर ले जाता है। इस तरह वे इश्क़ मजाज़ी से इश्क़ हक़ीक़ी का सफ़र तय करते हैं और इस तरह प्रेम में सिमटाव की संभावना जाती रहती है—

'एक लब्ज़-ए-मुहब्बत का अदना ये फ़साना है
सिमटे तो दिल-ए-आशिक फैले तो ज़माना है।'

---

1. *सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'राग-विराग', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद*
2. *डॉ. मैनेजर पाण्डेय, 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य', वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, पृ.-154-155*

महाजनपद-युग में काशी में बड़े मौजी लोग रहते थे। पशु-पक्षी पालते, चंदन का लेप करते, दीप-माणिक जलोत्सव, हस्ति मंगल, छत्र मंगल और मदिरोत्सव जैसे उत्सव मनाते थे। तब एक अनोखा संगीतोत्सव भी होता था—बुढ़वामंगल होली के बाद पहले मंगल को गंगा के वक्ष पर तैरते दुल्हन से सजे बजडों पर संगीत की महफ़िल जमती थी। पहले दो दिन मंगल, तीसरे दिन दंगल और चौथे दिन झिलंगा होता था। चार दिन तक काशी निरगुन, विदेसिया, पतिमा, लाचारी, बचैया पुनैया, गीत, फौव्वारा, गारी, घोड़ी, नहछू, बन्ना, नउवा, भक्कड़, आल्हा, सोहर, चदैनी, लक्ष्मणगीत, कजरी, कहरवा, बारहमासा, भांड और लावनी-सावनी में डूबी रहती थी। ये सब काशी के लोकधुन के बिरवे हैं जिन्हें आधार बनाकर रुद्र ने अपने कहानियों के शीर्षक रचे हैं। गुण्डा वर्ग का सोलह वर्षीय टुन्नु गांधी युग में विदेशी वस्त्रों की होली जलाने के अभियान को अपनी ऐसी ही कजरियों के माध्यम से लोकप्रिय बनाता है। 'एहि ठैंया झुलनी हेरानी हो रामा' कहानी गीत-संगीत के माध्यम से एक अलग तरह की प्रेम कहानी को अंजाम देती है। चूंकि संगीत बनारस की आत्मा है इसलिए रुद्र प्रेम में संगीत का माध्यम अपनाकर बनारस की संगीत-परंपरा को भी अपने उपन्यास में लेते चलते हैं। सत्रहवीं-अठारवीं शताब्दी में जब बनारस को अवध का नवाबी रंग चढ़ा तभी से बनारस के नाव-बजड़ों पर झूला-झूमर और कजरी-कव्वाली की धुन सुनाई देती रहती। मीर रुस्तम अली अवध से बनारस आए और खांटी बनारसी बनकर रह गए। ठंडई छानते, पान जमाते, छंद रचते और बनारसी संगीत की रंगा-रंग महफ़िल जमाते। 'चैत' की निंदिया जिया अलसाने' से पूरा बनारस जागता था। देश के किसी भी क्षेत्र में संगीत-कलाकारों का इतना बड़ा जमावड़ा नहीं मिलेगा। 'बुढ़वा मंगल' से लेकर जाने कितने ही संगीतोत्सवों की शुरूआत मीर-रुस्तम अली से होती है। अनास्था के बेसुरे माहौल में आज भी बनारसी संगीत गंगाजल पीकर संतोष करता है। जब कभी अभाव की वेदना मुखर होती है तो आधी रात के सन्नाटे में दर्द भरी भैरवी जागती है—

'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाय'

ऐसे संगीत को गौनहारिनों ने ख़ूब प्रचारित किया। 'एहि' छैंया झुलनी हेरानी हो रामा' की दुलारी बाई एक गौनहारिन है। गौनहारिन एक ऐसी परंपरा है जो तब केवल बनारस में ही पाई जाती थी। ये एक या चार-पांच समूह में गाती थीं तब इनका मुहल्ला नवाबगंज, खेवड़ी तालाब, बड़ा देव, मुडुंवाडीह, बड़ी पियरी, खोजवां और मछोदरी हुआ करता था। पैंतालीस वर्षीय दुलारी का प्रेमी सोलह वर्षीय टुन्नु था जो संगीत में उसका प्रतिद्वन्द्वी भी था। गीतों में इनका सवाल-जवाब यूं होता था—

टुन्नु—"रनियां लड परमेसरी लोट
दरगोड़े से घेवर बुंदिया
दे माथे मोती कऽ बिंदिया
अउर किनारी के सारी के
टांक सोनहरी गोट
रनियां लऽ....."

दुलारी — "कोढ़ियल गुहवै लेव बकोट
तोर बाप तऽ घाट अगोरलन
तैं सरबउला बोल जिनगी में
कब देखले लोट?
कोढ़ियल मुहवैं....."[1]

दुलारी एक विद्रोही स्त्री है। बटलोही में चुरती हुई दाल को पैरों की ठोकर मारना जैसी अनेक हरकतें उसे दूसरी भावुक स्त्रियों से अलग करती है। प्रारंभ में वह एक हृदयहीन वेश्या से ज़्यादा नहीं लगती लेकिन अपने चरित्र पर विश्वास रखना और बड़ी साफ़गोई से बात करने का साहस रखने वाली दुलारी का चरित्र इस कहानी में सशक्त रूप में आया है। यही दुलारी प्रसाद की 'गुण्डा' कहानी में भी मिलेगी। दुलारी जैसी वेश्या का विदेशी कपड़ों की होली में अपनी क़ीमती साड़ियों की होली जलाकर टुन्नु की दी हुई खद्दर की साड़ी पहनना अहिंसा और प्रेम की जीत के साथ लिजलिजे वासनात्मक प्रेम

---

1. *रुद्र काशिकेय—'बहती गंगा' राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-87*

पर सच्चे प्रेम की जीत भी है। टुन्नु को पुलिस ने गिरफ़्तार किया बूटों और ठोकरों से पहले उसकी पसली तोड़ दी गई और बाद में उसकी लाश वरुणा में प्रवाहित कर दी गई। स्वदेश प्रेम और विदेशी-वस्त्र बहिष्कार से शुरू हुए सत्याग्रह को जनांदोलन का रूप देने वाले ऐसे न जाने कितने टुन्नु बलिदान हुए होंगे। राष्ट्र-मुक्ति संग्राम में सारे देश में हज़ारों की संख्या में उपेक्षित वर्गों द्वारा किए बलिदान का पुख़्ता प्रमाण यह बहानी है, जिनके मौन और अविज्ञापित बलिदान का फ़ायदा अवसारवादी और स्वार्थी वर्ग हमेशा से उठाता आया है। केवल इसी कहानी में ही नहीं बल्कि समूचे उपन्यास में जन्मभूमि के प्रति असीम आस्था का विशेष और गत्यात्मक चित्र हमें मिलता चलता है—"बहती गंगा में भारत के विभिन्न अंचलों में प्रकीर्ण जातियों के अंतर्मन में व्याप्त जन्मभूमि के प्रति असीम प्रेम, विदेशी शासन के प्रति क्षोभ, दासता के जुए को उतार फेंकने की उनकी उत्कट लालसा, स्वातंत्र्य-संघर्ष में उनके योगदान विभिन्न जनपदों की सांप्रदायिक स्थिति, भविष्य निर्माण के प्रति उनकी आस्था आदि राष्ट्रीयपरक उपकरणों का सजीव रूप स्पष्ट हो जाता है।"[1] टुन्नु और दुलारी का प्रेम अंततः दूसरा ही रूप ले लेता है। स्वतंत्रता संग्राम में वेश्या की भागीदारी उनका विश्वास, विद्रोह और मौन प्रेम का प्रतिनिधित्व दुलारी बाई का चरित्र करता है—"जिस स्थान पर टुन्नु की लाश गिरी थी, वहीं दृष्टि जमाकर दुलारी ने गाया—'एहिं ठैया झुलनी हेरानी हो रामा' उसकी आंखें छलछला रही थीं। दूसरे दिन उसी खद्दर की साड़ी से फंदा लगाकर दुलारी ने आत्महत्या कर ली।" सचमुच दुलारी ने प्रेम की निशानी का प्रयोग फांसी लगाने में ख़ूब किया। इस कहानी का संबंध प्रसिद्ध गायिका रसूलन बाई से लगाया जाता है। यह एक ऐतिहासिक घटना है। रुद्र ने कल्पना का थोड़ा हल्का रंग इस पर ज़रूर चढ़ाया है, लेकिन यह कोरी कल्पना नहीं—"रसूलन बाई जैसी गायिका अंग्रेज़ों की पकड़ में आई है और ग़दर के बाद अंग्रेज़ सैनिक उसे वहीं नचा-गवा रहे हैं, जहां उसका प्रेमी विद्रोहियों में शामिल होने के कारण अंग्रेज़ों की गोली का शिकार हो गया। तीन गोलियां धांय-धांय

---

1. *मोहनलाल धींगड़ा—'हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में राष्ट्रीयता का स्वरूप' विश्वभारती पत्रिका-संपा. -रामसिंह तोमर, विश्वभारती शांति निकेतन, बंगाल*

चलीं और रमाकांत धराशाई हो गया—"एहिं ठैंया झुलनी हेरानी हो रामा'—लहु से लाल उसी ज़मीन पर रसूलन 'चेता' गा रही है।"[1] हमारे यहां गीत-संगीत की कुछ ऐसी परंपरा है जीवन के हर मोड़ पर, जन्म से मृत्यु के संस्कार में और करुणा और उल्लास में हर जगह अपनी उपस्थिति रखता है। मुंडन, शादी, होली, दीवाली यहां तक कि मुहर्रम के मातमी माहौल में भी संगीत की आवश्यकता है। दुलारी भी अपने जीवन का अंत संगीत से ही करती है। टुन्नु की शहादत संवाददाता ने पूरी सचाई से लिखी लेकिन संपादक का कहना था—"सत्य है किंतु छप नहीं सकता' कहानी का अंत यहीं होता है। अंत में भी लेखक सच को सच न छापने वाले संपादकों के दोहरे चरित्र पर प्रश्न लगा जाता है। अंततः कहानी कई उद्देश्यों को एक साथ लेकर पर्तों में खुली है लेकिन बिखरी नहीं है। इस कहानी में 'ग़ालिब' बार-बार याद आते हैं—

"हैफ़ उस चार गिरह कपड़े की क़िस्मत 'ग़ालिब'
जिसकी क़िस्मत में हो आशिक़ का गरीबां होना।"

खद्दर की चार गिरह की धोती एक तरफ़ प्रेम का प्रतीक बनी है और दूसरी ओर देश-प्रेम की भी। इस धोती से दुलारी का फांसी लगाना प्रेम और देश-प्रेम को एकमेक कर देता है। यह अघाया हुआ वासनात्मक प्रेम नहीं बल्कि 'बहुत कठिन' दिनों का प्रेम है—

"बहुत कठिन दिनों का
प्यार था
यह...
जब भूख से मरोड़ी अंतड़ियों
से
कराह उठता था
वक़्त-बेवक़्त
अकुलाया हुआ मन

---

1. *सिद्धेश्वर सिंह—'सारिका : सुबह-ए-बनारस', अंक-305, टाईम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन'*

फ़र्क नहीं कर पाता था

तुम्हारी और मां की गोद में''[1]

ऐसे में मां और प्रेयसी के गोद कोई फ़र्क नहीं लगता।

दाताराम नागर, भंगड़ भिक्षुक, चित्रकार रामदयाल, झालर महाराज, टुन्नु, दुलारी, बेनी तमोली कुछ ऐसे पात्र हैं, जिन्हें रुद्र ने काशी की जनश्रुतियों से निकालकर कथानायकों का रूप दिया है। ये सारे पात्र साधारण पात्र हैं। प्रेमचंद और शरत् ने यह काम पहले ही कर दिया था। 'राजलक्ष्मी' जैसी महनीय नारीत्व का संधान और 'होरी' तथा 'सूरदास' जैसे साधारण पात्रों को महाकाव्यात्मक गरिमा देने का यह बड़ा काम था। इस परम्परा को पूरी परिपक्वता के साथ रुद्र आगे बढ़ाते हैं। सैंकड़ों वर्षों के एक पुराने नगर की अनुश्रुतियों में जीवित रहने वाले चरित्रों में उन्होंने समूचे युग की सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेश को पुनर्जीवित किया। यह एक जोखिम भरा कार्य था जिसकी सफल परिणति 'बहती गंगा' में होती है। 'बहती गंगा' के पात्रों का ज़िन्दगी जीने का एक अलग नज़रिया है। रचनाकार उनसे छेड़खानी नहीं करता। उन्हें उन्हीं के सत्य के रूप में गढ़ता चलता है, इसलिए छोटे-बड़े सभी पात्र झींगुर, गंगों, जनार्दन, झालर और सूरत जैसे छोटे-मोटे पात्र भी अंत तक हमारी सहानुभूति पाते हैं और एक स्वाभाविक गहरी छाप छोड़े जाते हैं।

नई कहानी के दौर में प्रेम की पीर की कहानियां लिखी गईं, जहां निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, दूधनाथ सिंह और अमरकांत जैसे रचनाकार प्रेम का एक अलग ही रूप ले आते हैं। रुद्र, रेणु और नागार्जुन परम्परा में आती हैं। रुद्र की कहानियों में प्रेम में कहीं भी संयोग की स्थिति नहीं बन पाई है। सत्रह कहानियों में एक भी ऐसी कहानी नहीं है जहां प्रेमियों का मिलन हुआ हो। इनका कथ्य और शिल्प नई कहानियों से भिन्न ज़रूर हे, लेकिन 'प्रेम' इन सारी कहानियों को एक ही भावभूमि पर खड़ा करता है। इस रूप में 'परिन्दे' और 'एहि पार गंगा ओहि पार जमुना' कहानी में हम कोई बुनियादी फ़र्क

नहीं कर सकते। दोनों में प्रेम की पीर गहरी है। नई कहानियों में जिस सूनेपन, अजनबीपन और ख़ालीपन के दर्शन होते हैं वह स्थिति 'बहती गंगा' में होकर भी नहीं है। जिस 'अस्तित्ववाद' ने इन प्रवृत्तियों को जन्म दिया था, उसके प्रवर्तक सार्त्र का कहना है—"मैं जो सिद्धांत प्रस्तुत कर रहा हूं, वह निवृत्तिवाद से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि इसके अनुसार कर्म के अतिरिक्त और कुछ भी यथार्थ नहीं है।" 'बहती गंगा' के पात्र निवृत्तिवाद में नहीं कर्म में विश्वास रखते हैं। ख़ालीपन का भराव उनके यहां राष्ट्र प्रेम और गुलामी की बेड़ियों को तोड़ देने की उत्कट लालसा से होता है। बेनी जैसा अपढ़ व्यक्ति अपने ख़ालीपन के लिए गंगा से कहता है—"आदमी को कुछ न कुछ तो करना ही पड़ता है। न करे तो सूनापन डस न ले।" ये पात्र अगर इस सूनेपन और ख़ालीपन को ही स्वीकार कर लेते, तो परतंत्र भारत के सामंती और उपनिवेशवादी समाज में बिना किसी विरोध और संघर्ष के रह लेते, लेकिन इनमें जूझने की और लड़ने की और फिर आज़ाद होने की ललक थीं, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री।

प्रेम, त्याग और तपश्चर्या की त्रिवेणी है हंस-किंकिनी का प्रेम। 'लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटे', इसी लरिकाई के प्रेम का युवा रूप चित्रकार रामदयाल और अमीरन बाई का प्रेम है। 'घर-घर अलख जगाने वाली भैरवी अमीरजान कहानी 'आए आए आए' में बहुत प्रभावपूर्ण भूमिका के साथ आती है। यही अमीरन जब नन्हीं किंकिनी थी तो किस भोलेपन से 'हंस' से कहती है—"तुम्हारे बप्पा के मर जाने के बाद तुम्हारा कोई नहीं रहा। वहां मैं तुम्हें बड़े सुख से रखूंगी। ऐसे ही नदी किनारे कोठेदार घर होगा। सामने अमराई होगी। पीछे फूलों का बग़ीचा होगा। वहां मैं दौड़-दौड़कर तितली पकडूंगी और तुम बैठकर मेरी तस्वीर बनाना।"[1] अमराई और फूलों का बग़ीचा बहुत पीछे छूट जाता है और किंकिनी प्रसिद्ध वेश्या अमीरन बाई से बेग़म अमीर जान और फिर टिकिया बेचने वाली बूढ़ी अमीरन बन जाती है और हंस अंधा चित्रकार रामदयाल। अमीरन इस गहरे दुख से टूटती नहीं है बल्कि टिकिया बेचने के बहाने घर-घर के युवाओं को अंग्रेज़ों की गुप्त बातें बताती हैं, और बड़े विश्वास से कहती

1. *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' 'बहती गंगा', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-50*

हैं—"मैं क्या थी, यह भूले जुगों बीत गए। आगे क्या हो जाऊंगी-अल्लाह जानता अलबत्ता मैं इतना जानती हूं कि इस बखत मैं क्या हूं।" अमीरन के वक्तव्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण और वर्तमान में जीने की झलक है। अमीरन के चरित्र से तत्कालीन काशी में स्त्रियों की स्थिति का खुलासा भी होता है। ऐसे पात्रों का प्रेम साधारण होकर भी असाधारण है, लेकिन प्रेम की असाधारणता इन्हें दिव्य या आध्यात्मिक नहीं बनातीं बल्कि सर्वमान्य बनाती है। इसी कहानी की ज़मीन से 'रक़िया' उपजी है। बारह वर्षीय रक़िया काशी के युवराज प्रसिद्धनारायण थे अपना हृदय दे बैठी है। यह प्रेम आजीवन मौन बना रहा है और इस प्रेम के आड़े धर्म-संप्रदाय कुछ भी नहीं आता। रक़िया के जीवन और उसी से जुड़े काशी के जन-जीवन का पता 'अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी' कहानी में बेकले के पत्र से मिलता है—"यह देश बड़ा विचित्र है, उसमें भी इस बनारस का तो कहना ही क्या। यहां के लोग बड़े टर्बुलेंट (दुर्दांत) होते हैं। वे गंभीर बातों पर विज्ञतापूर्ण दृष्टि से मुस्कराते हैं और छोटी-छोटी बातों पर लड़ मरते हैं। तुम्हें जानकर हैरानी होगी कि यह औरत भी झांसी की रानी की तरह ग़दर को आज़ादी की लड़ाई मानती है।"[1] रक़िया अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बनारस से होकर जाने वाली विद्रोही सेना का स्वागत बनियों को भड़का कर कुंओं में चीनी डालकर बनाए हुए शरबत से करती है। रक़िया जैसे पात्र एक तरफ़ प्रेम में आजीवन समर्पित रहते हैं दूसरी ओर स्वतंत्रता संग्राम के लिए शहीद हो जाते हैं। प्रेम और शहादत के ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं। "जीवन भर रक़िया समाज विद्रोह कर जीती रही और अंत में राज्य व्रिदोह कर मरी" एक तरफ़ प्रेम की लौ और दूसरी तरफ़ व्रिदोह की आग उपन्यास के लगभग सभी पात्र में निरंतर जलती रहती है। ये पात्र काशी की मस्ती भरी ज़िन्दगी की ज़िन्दा मशाल है, जिनमें सारे देश का जीवन व्यंजित हो उठा है।

भारत की स्वतंत्रता की रात लंगी ज़रूर थी लेकिन इतिहास गवाह है कि भारतवासियों ने इस परतंत्रता से कभी समझौता नहीं किया। जिस तरह संयुक्त परिवार आपसी कलह-वैर-द्वेष के बाद भी बाहरी शक्तियों का सामना करने के लिए एकजुट हो

---

1. *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', 'बहती गंगा', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-63*

जाता है, वैसे ही समय आने पर भारत के हिंदू-मुसलमानों ने एकजुट होकर, आपसी बैर-भाव भूलकर बाहरी शक्तियों का सामना किया है। 'बहती गंगा' में यदि कुबरा मौलवी, बनकट मिसिर, फ़ैयाज़ अली, मौलवी अलाउद्दीन, बेनीराम और शंभुराज पंडित जैसे देशद्रोही हैं तो नागर, भिक्षुक, अमीरन, दुलारी, रक़िया, टुन्नु, सितारा और शहाबुद्दीन जैसे देशप्रेमी भी हैं। यहां देशप्रेमी या देशद्रोही केवल हिंदू या मुसलमान नहीं, बल्कि हिंदू और मुसलमान दोनों ही हैं। 'रामकाज छनभंगु सरीरा' सितारा और शहाबुद्दीन की प्रेम कहानी है। सितारा और शहाबुद्दीन के निकाह के पहले दिन ही शहाबुद्दीन रामहल्ला[1] का राममंदिर बचाने में शहीद हो जाता है। आश्चर्य की बात यह है कि सितारा के पिता मुसलमान हैं और माता हिंदू। हिंदू-मुसलमान एकता ही यह बड़ी मार्मिक कहानी है। दुलारी और बेनी की कहानी का अंत भी इसी कहानी में छुपा है। यहां हिंदू मुसलमान के दंगे भी हैं उनका प्रेम भी है। रामहल्ला के दंगे में मुसलमानों को समझाते हुए शहाबुद्दीन कहता है—"बनारस के हिंदुआ और मुसलमानों सुनो! अस्सी पर पानी-कल बिठाने के लिए सीता-राम का प्राचीन मंदिर तोड़ा जा रहा है। आज मंदिर टूट रहा है, कल मस्जिद टूटेगी। बचाओ, बचाओ, बचाओ।" धर्म—संप्रदाय को पीछे छोड़ कर प्रेम जिस गरिमा के साथ इस कहानी में आया है, उससे हिंदू और मुसलमानों का अलग-अलग दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। सितारा की हिंदू अम्मा जान कहती है—"राम भी तो ख़ुदा का ही नाम है। सच पूछों तो इश्क़-मुहब्बत' को ही ख़ुदा कहते हैं।" इस बात की ताईद सितारा के पिता इस तरह करते हैं—"अल्लाह मजनूं को लैला नज़र आता है।"

'ऐहि पार गंगा ओहि पार जमुना' में गंगा का मन 'बेतार के तार' के माध्यम से बेनी के मन में जुड़ गया है। 'गर्वीली ग़रीबी' और गंवई संस्कृति का स्वाभाविक चित्रण

---

1. *काशी का वह प्रसिद्ध स्थान जहां अंग्रेज़ी हुकूमत के समय 'राममंदिर' हुआ करता था। उस मंदिर को गिरवाकर अंग्रेज़ों ने वहां पानी टंकी बनवा दी। मंदिर गिरने के समय काशी के हिंदू-मुसलमानों ने विरोध में 'राम-राम' हल्ला करते हुए दंगा-फ़साद शुरू कर दिया और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ इस छोटे से विद्रोह ने ग़दर का रूप ले लिया। इस तरह यह स्थान 'रामहल्ला' कहलाया।*

इस कहानी में मिलता है। अभाव में भी एक अजीब संतोष है। गंगा एक ऐसी ठस्सेदार अहीर लड़की है, जिसके चाहने वाले राय साहब साधूराम से लेकर, सीताराम जपने वाले पंडित जन और साठ बरस के मुंशी जी तक हैं। धन और साधनों का लोभ दिखाकर 'गंगा-लाभ' चाहने वाला यह उच्चवर्गीय समाज गंगा को फिर भी एक अहीर ही मानता है लेकिन जहां इनका स्वार्थ तुष्ट होता है वहां इनकी जाति और कुल अपवित्र नहीं होता। अपने स्वाभिमान और प्रेम के लिए गंगा कहीं विवाह नहीं करती और मां की फटकार सुनती रहती है—"तू कौन सी ठाकुर-बामन है कि सगाई करने से तेरी जात चली जाएगी।" गंगा का सीधा जवाब होता है—"मैंने तुमसे कह तो दिया कि अपना-अपना मन ही तो है।" और उसका मन है कि तेज़ी से बेनी की ओर ख़िचा जाता है। बेनी को भी अपने 'हृदय के इस धर्म' के लिए किसी दिखावे की ज़रूरत नहीं—'न राय साहब साधू होंगे, न तुम्हारी अम्मा मरेंगी। जिसे साधू होना होता है गंगा, वह तो हो ही जाता है, उसे कहने की क्या ज़रूरत। तन पर अंगोछा और हाथ में जमुना की पगहिया लिए हुए बेनी अपने मार्मिक स्वर में अलापता हुआ घर से बाहर हो गया।[1] उसी दिन से गंगा का मितवा मड़ैया सूनी कर गया।

जिस तरह रेणु के मेरीगंज में सिरवा पर्व है, निर्गुण, भउजिया, बिदापद नृत्यु, होली का जोगीड़ा, गेहूं-कटाई के समय की चैती, जाट-जट्टिन खेल, बारहमासा, सुराजी कीर्तन है वैसे ही काशी में 'बुढवा मंगल' पर्व है, निरगुन-बिदेसिया, गीत-गारी, कजरी-कहरवा, सोहर-बन्ना, लावनी-सावनी, भाड़-भक्कड़ सब कुछ है। इन परम्पराओं से रुद्र के जुड़ाव ने इनकी कहानियों को काशी के लोक में रचा-बसा दिया है।

'बहती गंगा' की पहली कहानी 'गाइए गणपति जगबंदन' राजमाता पन्ना के विद्रोह की आवाज़ है। तुलसी बाबा ने यह पंक्ति लिखते समय यह नहीं सोचा होगा, कि उनकी यह पंक्ति किसी क्रांति या विद्रोह की शुरूआत करेगी, लेकिन राज-विद्रोह की शुरूआत हुयी, वह भी 'गणपति' का नाम लेकर ही। एक तरफ़ बलवंत सिंह की राजनीति है दूसरी तरफ़ पन्ना का मंगलगान है। पन्ना का मंगलगान राजविद्रोह की

---

1. *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'—'बहती गंगा', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-110*

आवाज़ है। काशी की जनता और राजमहल की राजनीति वर्ण-संकर चेतसिंह को स्वीकार नहीं करती लेकिन इनकी अस्वीकृति पुत्र के जन्म पर माता का मंगलगान नहीं रोक पातीं। पन्ना विक्षिप्तावस्था में बलवन्त सिंह से कहती है—"देखूं कब तक तुम लोग राजनीति के नाम पर नारी के गौरव और हृदय की बलि चढ़ाते हो। कहते-कहते जैसे किसी, स्वजन की मृत्यु पर लोग छाती पीटते हुए रोते हैं वैसे ही दोनों हाथों से अपनी छाती धड़ाधड़ पीटती हुई रानी चिल्लाकर विक्षिप्तों के समान गाने लगीं—'गाइए गणपति जगबंदन।

आमतौर पर घोड़े पर जीन कसी जाती है और हाथी पर हौदा रखा जाता है, लेकिन उपन्यास की दूसरी कहानी 'घोड़े पे हौदा और हाथी पर जीन' शीर्षक में जितना विरोधी स्वर है उतना ही कहानी के मंतव्य में भी। वॉरेन हेस्टिंग्स चेतसिंह से जुर्माना लेने काशी आने वाला है। उससे पहले ही अपनी तेज़ राजनीतिक सूझबूझ का इस्तेमाल करते हुए राजमाता पन्ना ने काशी के लगभग सभी वेश्यों-महाजनों के घर में दस-दस, बीस-बीस सिपाही रखवा दिए। लबदन साव के लिए पन्ना का बुलावा इसलिए ही आता है, लेकिन उसे कुछ का कुछ समझकर वह सपरिवार कहीं भागने की तैयारी कर डालता है। लबदन का प्रसंग लेकर लेखक ने इस कहानी को हास्य रस से सराबोर कर दिया है लेकिन इसका मूलभाव राष्ट्रीयता ही है। जब हेस्टिंग्स को इस षड्यंत्र का पता चलता है तो वह भी चोरी से भाग निकलता है और पासा उलटा पड़ जाता है। पासा उलटा हो जाने से ही काशी की जनता में यह मुहाविरा प्रसिद्ध हो जाता है। बच्चे प्रभात फेरी की तरह जुलूस लेकर निकल पड़े हैं और गा रहे हैं—

'घोड़े पे हौदा और हाथी पर जीन,
जल्दी से भाग गया वारेन हेस्टीन।"

तत्कालीन काशी की जनता एक तरफ़ अंग्रेज़ी प्रशासन के दमन-चक्र में फंसी है और दूसरी ओर महाजनी और जमींदारी कुचक्रों ने इनका जीवन नारकीय बना रखा है फलस्वरूप यहां की जनता की मानसिकता कई स्तरों पर एक हो जाती है 'रोम-रोम में वज्रबल' की 'गोदावरी' गंगा में डूबने जाती है अपने अहं तुष्टि का एकमात्र संबल यही

लगता है लेकिन घाट पर जीतू, ननकू और बंगाली यात्री की बातें सुनकर वह अपना निर्णय बदल देती है, जब ये लोग गोदावरी के पति झालर महाराज की वीरता की प्रशंसा करते थक नहीं रहे थे। यही झालर महाराज आगे चलकर अंग्रेज़ों के कामों में रोड़े अटका रहे थे। मेरीगंज पर रेणु की जिस व्यापकता, समग्रता और गहराई से पकड़ है, वह, पकड़ 'बहती गंगा' के उपन्यासकार में पूरी तरह से भले ही न हो, लेकिन अपने प्रदेश की लगभग सभी तरह की झांकियां यहां मूर्तिमान हो उठी हैं। हाशिए के इन आम लोगों की कहानी रुद्र इन्हीं की जुबानी में कहते हैं। मिली-जुली गंवई और हिंदू-मुस्लिम संस्कृति की गंगा-जमुनी तहज़ीब, निर्धनता में भी मस्ती, जहालत में भी दर्प यहां के लोगों का असल रूप है।

नागबच्छ, धतूरे के बीज, अफ़ीम, पंचरत्नी, भांग, ठंडई, कुरकुराती टिकिया, खुश्बूदार तम्बाकू, चिलम और पान-ज़र्दा से पूरा बनारस उनींदी अवस्था में है। 'मृषा न होई देव-रिसी बानी' शीर्षक जितना आदर्शवादी है, यहां के 'बाबा' लोगों पर उतना ही बड़ा व्यंग्य है। बाबा जी का भांग देखकर सुक्खू से पूछना—"क्या बच्चा अकेले ही अकेले' में मस्त फ़कीरीपना के साथ अकर्मण्यता और निष्क्रियता की हद भी है। बाबाजी कमंडल में भांग को शंकर का प्रसाद समझकर ग्रहण करते हैं और पीतल की चिलम निकालकर गांजा मलकर सुलफ़ा सुलगाते हैं। यही इनका सत्य है बाक़ी दुनिया मिथ्या-माया। ऋषियों का चोला पहने आज भी इन साधुओं का काशी पर जन्मसिद्ध अधिकार है। बार-बार शाप की मुद्रा बनाकर लोगों को मूर्ख बनाना इनका जीविकोपार्जन बन चुका है किंतु काशी की जनता भी कभी इन्हें सिर पर बिठा लेती है कभी इनकी सारी पोल-पट्टी खोल देती है। जहां सुक्खू कहता है—"साधु महात्मन के दे के तबै परसाद लेवे के चाही" वहीं झींगुर कहता है—"ढेर ग्यान जिन छांट। अइसन टोटा-रहंत साधु हम बहुत देखले हई।' काशीवासी होने का इतना गर्व कि—"अइसन सराप से हम नाहीं डेरा इत। कासी कऽ कंकर सिवसंकर समान होला।" लेकिन कहानी का मंतव्य इतना ही नहीं है। पहली कहानी और दूसरी कहानी का अंत इसी कहानी में छिपा है। हमारे यहां किसी भी घटना को धार्मिक आवरण दे देने से जल्दी ही वह घटना लोगों में

गहरी पैठ और श्रद्धा बना लेती है। लेखक ने जिन कीनाराम बाबा की चर्चा साधू के माध्यम से करवाई है वह काशी की कहावतों और किंवदन्तियों में रचे-बसे हैं। इस कहानी में काशी का दिल्ली सरकार में विलय का ऐतिहासिक प्रसंग है जो तमाम विश्वासों, अंधविश्वासों, क़िस्सों-कहावतों से होती एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य का संकेत कर जाती है। चेतसिंह काशी की गद्दी से उतरे और उनके राज्य का विलय हुआ। इस तरह 'रुद्र' जगह-जगह ऐतिहासिकता का पुट बांधते चले हैं। 'सिवनाथ बहादुर सिंह का ख़ूब बना जोड़ा' कहानी में एक और कहानी है जिसमें शिवनाथ और बहादुर सिंह दोनों ने नए-नए स्थापित अंग्रेज़ी शासन के नियमों को तोड़ा है और अंग्रेज़ी सेना का सामना दोनों ने मिलकर किया है। इन्हीं में से शिवनाथ को लेकर काशी में यह प्रचलित हो गया कि वह 'रात-बिरात लोगों के हाथों से खाने-पीने की चीज़ ग़ायब कर देते हैं। इस अंधविश्वास का फ़ायदा फेंकू जैसे चालाक लोग उठाते हैं। दरअसल बनारस में आज भी वीरों और दैत्रों की पूजा का प्रचलन है। इनसे संबंधित चौरे जगह-जगह वहां मिल जाएंगे। शिवनाथ और बहादुर सिंह की पूजा उन्हीं वीरों के रूप में की जाती है। इन लोक-विश्वासों को लेकर लेखक ने जिस तरह कहानी का रूप दिया है उससे वह बनारस वासियों के और क़रीब होते जाते हैं भले ही इन लोक-विश्वासों से जुड़ी कहानियों का मंतव्य दूसरा हो। सारी कहानियों में तीन कहानियां 'अल्ला तेरी मजजिद अव्वल बनीं' 'रोम-रोम में वज्रबल' और 'सिवनाथ बहादुर सिंह का खूब बना जोड़ा' जैसी कहानियों के पराशक्ति जैसे लक्षण मिलते हैं जैसे रक़िया का रुह बनकर घूमना, झालर महाराज की अपूर्व हनुमत-शक्ति, रूपचंद का पूर्वा (मिट्टी का प्याला) ग़ायब हो जाना आदि। ये कहानियां काशी में प्रचलित लोक-विश्वासों पर आधारित है, जो एक अलग उद्देश्य को लेकर चलती हैं।

इनके अलावा अभिजात के ढोंग और मध्यवर्ग के खोखलेपन को लेकर भी कहानियां मिल जाती हैं। धीरे-धीरे उपन्यास अलग-अलग समस्याओं को सामने लेकर आता हैं। लिजलिजी भावुकता इन पात्रों में कम मिलती है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' का 'विमेन हेटर' रघुवीर नारी विद्वेषी के रूप में प्रसिद्ध ज़रूर है लेकिन स्त्रियों के लिए

उसके मन में सच्ची प्रतिष्ठा है। वह कुसुम से प्रेम करता है लेकिन सचाई को बड़ी बेबाकी से कहना भी वह जानता है—"गोपी बाबू! जब लड़कियां चमक-दमक, बनावट-सजावट, चलन और सभ्यता में यूरोप का आदर्श मानती हैं, तो गौरव का इतना भारतीय भाव क्यों? आधा तीतर और आधा बटेर यह तो अच्छा नहीं।"[1]

'चैत की निंदिया जिया अलसाने' का पद्मानंद ज़िन्दगी के चौथे ज़ीने पर है। अपने अंतिम सोपान पर वह ज़िन्दगी के कडुवे पक्ष से परिचित हो रहा है और बच्चों के खेल 'सोन चिरैया कित्ता पानी' में अपने जीवन का कटु यथार्थ देख रहा है, फिर भी लेखक जीवन में विश्वास की ही बात रखता है अनास्था की जगह यहां नहीं है। "मछली, मछली कित्ता पानी? सधा हुआ उत्तर मिला 'सोन-चिरैया इत्ता पानी।" लड़की धम्म से नीचे फ़र्श पर कूदी। मछलियों की भूमिका में खड़े बालक-बालिकाओं ने सोनचिरैया को छिपा लिया। सोनचिरैया ने पहले फड़फड़ाने का अभिनय किया तत्पश्चात् उसने हाथ ढीले कर दिये।" सिनेमा के सत्तर और अस्सी के दशक में जिस तरह एक मांझी, पात्र के जीवनगत यथार्थ को अपने दार्शनिक गीत के माध्यम से प्रकट करता था, कुछ वैसा ही अंत इस कहानी का भी होता है—"दूर किसी बजड़े पर इस दुर्घटना से अनभिज्ञ नायिका ने तान लड़ाई—"चैत की निंदिया जिया अलसाने हो रामा।" लेखक ने इन लोकगीतों के ज़रिए पात्रों और कहानियों के यथार्थ को सामने रखा है। गीतों में ही इनके पात्र जीते और मरते हैं।

'बहती गंगा' के स्त्री-चरित्र हमें पूरी तरह आश्वस्त करते हैं। प्रौढ़ व्यस्का दुलारी का नवव्यस्क टुन्नु से प्रेम, परित्यक्ता गंगा का बेनी के प्रति प्रेम, रघुवीर को घृणा करने वाली कुसुम का रघुवीर ने प्रति ही पुनः प्रेम और पति उपेक्षिता सुधा का मिट्ठू कोयलेवाले के प्रति मौन प्रेम को मनोवैज्ञानिक आयाम देना अपने आप में एक मिसाल है, साथ ही उदात्त मानवीय भाव और मूल्यों का अनुसंधान करना एक दूसरा पेचीदा काम है। प्रेम और वीरता के क्षेत्र में ये स्त्रियां अतुलनीय हैं। नागर की प्रेयसी सुंदर, भिक्षुक की पत्नी गौरी, बचपन में ही अपने प्राणों की रक्षा करने वाले को सर्वात्म भाव

---

1. *शिवप्रसाद मिश्र रुद्र, 'बहती गंगा' राधाकृष्ण प्रका. दिल्ली, पृ.-137*

से प्रेम करने वाली रक़िया और पति की स्मृति में एक सूत पर ज़िन्दगी काट देने वाली सितारा भिखारिन की प्रेम-कथाएं बेजोड़ हैं छोटी-सी भूमिका में आने वाली सोनामती भी अपने पूरे विश्वास के साथ आती है—उसका मानना है—"मर्द के पास दृष्टि होती है केवल समूची दुनिया का रूप देखने के लिए, लेकिन औरत के पास होती है अर्न्तदृष्टि। वह बाहर नहीं भीतर भी झांक लेती है।"

इसी तरह प्रेमा का अपना अलग नज़रिया है—"जिस तरह बंदरिया अपने मरे हुए बच्चे को जब तक वह सड़ न जाय लिए-लिए फिरती है, उसी तरह तुम हिंदी वाले आदर्श का मुर्दा लिए डोल रहे हो।" इस तरह के वक्तव्य इन पात्रों के समय और समाज की देन हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इन स्त्री-पात्रों का पुरुषों से अलग एक नज़रिया है, जिसमें उनका भीतरी विश्वास झलकता है। सामंतवादी पुरुष मानसिकता, गंदी राजनीति, गुलामी की बेड़ियों और उच्च वर्ग के चोंचलों के खिलाफ़ इन स्त्रियों का विद्रोह रिस-रिस कर फूट पड़ा है। 'सारी रंग डारी लाल-लाल' में हंसिया और हथौड़े के पास-पास गिरने की घटना का निरुपण कर लेखक ने समाजवाद में अपनी आस्था प्रकट की है। जिस तरह लाल रंगों से इस कहानी का या पूरे उपन्यास का अंत हुआ है वह बड़ी से बड़ी यथार्थवादी कहानी में दुर्लभ है। 'बहती गंगा' की पिछली कहानियों का अंत यदि अगली कहानी की शुरूआत है तो घुप्प अंधेरे में दीपक की चमकती लौ भी है।

चौथा अध्याय

'बहती गंगा' का स्वरूप

'बहती गंगा' और 'सूरज का सातवां घोड़ा' प्रयोग और शिल्प के स्तर पर 1952 की अनूठी कृतियां हैं। 'सूरज का सातवां घोड़ा' का माणिक मुल्ला "सात दिनों में सात कहानियां क़िस्सागोई शैली में सुनाता है। मुल्ला का मित्र पूछता है—"मुल्ला भाई! एक बात पूछूंगा, ये कहानियां जो तुम कहते हो, बिल्कुल सीधे-सादे विवरण की भांति होती हैं। उसमें कुछ कथाशिल्प कुछ काट-छांट कुछ टेकनीक तो होनी चाहिए।"[1] मुल्ला भाई का टेकनीक रहित जवाब होता है—"टेकनीक पर ज़्यादा जोर वही देता है जो कहीं से अपरिपक्व होता है, जो अभ्यास कर रहा होता है या जिसे उचित माध्यम नहीं मिल रहा हो।"[2] धर्मवीर भारती जहां पौराणिक प्रतीक और कथावाचन शैली का प्रयोग कर इस उपन्यास में मौलिकता लाते हैं वहीं, 'रुद्र काशिकेय' 'बहती गंगा' के सत्रह शीर्षकों से ही मानो परिवर्तनशील काशी की कथा कह डालते हैं, कथा ही नहीं बल्कि व्यथा भी। इस तरह अपने-अपने नए पैटर्न में दोनों उपन्यास आंचलिक न होकर भी लोक और अंचल से कहीं गहरे जुड़ते हैं। कोई भी ताज़ा कृति (अगर उसमें सचमुच प्रयोगशीलता और नवीनता की ताज़गी है) साहित्य क्षेत्र में क़दम रखती है तो निश्चित रूप से आलोचकों और साहित्याचार्यों के बहस का मुद्दा बनती है। अपने नए स्वरूप के कारण इन आलोचकों के बीच 'बहती गंगा' को भी काफ़ी रस्साकशी करनी पड़ी थी और इसलिए स्वयं रुद्र जी को भी। परिणाम यह हुआ कि इस कृति के महत्व से लोगों का ध्यान भटक गया। किसी ने इसे आंचलिकता के खांचे में बिठाया तो किसी ने एतिहासिकता के, किसी ने कहानी संग्रह की पांत में खड़ा कर दिया तो किसी ने इसे उपन्यास मानने से ही इंकार कर दिया। नए दौर के रचनाकार प्रेम कुमार 'मणि' का उपन्यास 'ढलान' लगभग 'बहती गंगा' का ही विस्तार है। इस उपन्यास को विनयमोहन ने फिर आचंलिकता की बनी-बनायी शक़्ल देनी चाही है।

काशिकेय लिखते हैं—"कृपालु आलोचकों ने यह भी प्रश्न उठा रखा है कि 'बहती गंगा' उपन्यास है अथवा कहानी संग्रह इसका निर्णय भी वही करें। यह उन्हीं का काम

---

1. *धर्मवीर भारती, 'सूरज का सातवां घोड़ा'*
2. *वही*

है, मेरा नहीं। मेरा निवेदन तो इतना ही है कि 'प्रिय प्रवास' और 'कामायनी' को महाकाव्यत्व के चौखटे में फिट किए बिना क्या उनका महत्व स्थापित नहीं किया जा सकता? क्या कथा साहित्य की विधाएं कहानी और उपन्यास तक ही सीमित हैं? विधाएं साहित्य की जननी नहीं, साहित्य ही विधाओं का जनक है।"[1] लेखक सब कुछ कह कर भी बड़ी साफ़गोई से तटस्थ हो गया है। दरअसल ऐसे सवालों से अपने समय की सारी कृतियां टकराती ही हैं। अपने ख़ास समय में ऐसे सवाल उठते हैं और समाप्त हो जाते हैं लेकिन इन उलझनों में पड़कर कृति के मूलभाव को हाशिए पर ला देना बिल्कुल बेमानी है। यह बेमानी 'बहती गंगा' के साथ हुई है, जबकि यह उपन्यास प्रयोग-शिल्प, भाषा और भाव में आज भी एक चुनौती है। डॉ. भारती ने 'सूरज का सातवां घोड़ा' में कथावक्ता के रूप में माणिक मुल्ला द्वारा सात कहानियों को एक सूत्र में पिरोया था, लेकिन 'बहती गंगा' की सत्रह कहानियों को एक सूत्र में पिरोने वाला कोई मुल्ला नहीं है फिर भी इन कहानियों को एक महीन डोर एक दूसरे से जोड़े हुए है—वह डोर है, प्रेम की डोर। हृदय का भावात्मक धर्म, प्रेम और स्थान-सम्बद्धता इन कहानियों की पहली ज़मीन है, साथ ही पात्रों की आवृत्ति भी कथा को जोड़ती चलती है। पहली कहानी में राजमाता पन्ना का उल्लेख दूसरी कहानी में भी मिलता है। ऐसा लगता है कि पन्ना की कहानी को पूर्णता प्रसाद की 'गुण्डा' कहानी में मिलती है। इसी तरह दूसरी कहानी का तलवरिया (चूंकि वह तलवार चलाने में सिद्धहस्त था) दाताराम नागर तीसरी कहानी का नायक है और तीसरी कहानी में चर्चित भंगड़ भिक्षुक चौथी कहानी का नायक बनता है। इस तरह कहानी-दर-दर कहानी मिलकर एक मुक़म्मल उपन्यास की शक्ल लेती है। इस रूप में यह एकदम नया प्रयोग है:—

"लघु उपन्यासों के विकासात्मक इतिहास में जो स्थान धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवां घोड़ा'' का है, वही स्थान शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की 'बहती गंगा' का है। अपनी शैली, शिल्प और गठन में ये दोनों रचनाएं अत्यंत प्रभावी एंव मार्मिक हैं। फिर भी प्रयोग की दृष्टि से 'बहती गंगा' का अपना महत्व है। कथा, देशकाल, शैली,

---

1. *शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र' 'बहती गंगा'—'मेरी बात' के अन्तर्गत, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-8*

प्रस्तुतीकरण पद्धति औपन्यासिक कला के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोगशीलता को आत्मसात् किए 'रुद्र' का प्रथम लघु उपन्यास हिंदी उपन्यासों में अत्यंत महत्वपूर्ण प्रयोग है।"[1]

उपन्यास समग्र जीवन की पकड़ है और समय परिवर्तन के साथ जीवन भी नए-नए रूपों और ढंगों में ढलता जाता है। इन जीवन-तथ्यों को सामने लाने के लिए साहित्यकार नए-नए रूपों और बोलियों को अपनाता चला है। यदि देखा जाय तो ये प्रयोग लेखक के निजी जीवनानुभवों से भी जुड़े हुए हैं यह कोई ऊपरी चीज़ नहीं लगती। जहां कथन और भाषा शैली का बाह्य चमत्कार ही अभीशिप्त हो, वह प्रयोग केवल प्रयोग भर ही है। वास्तविक प्रयोग तो उसे समझना चाहिए जहां भावानूभूति की तीव्रता, वक्तव्य वस्तु की नवीनता और जीवन-सत्यों की गंभीरता की भी अभिव्यक्ति होती हो। इस प्रयास में नवीन रूप विधान अनिवार्यतः आ जाता है। 'बहती गंगा' के संदर्भ में लगभग सभी आलोचकों एक ही बात कही है—"'बहती गंगा' की वस्तु का धारा-तरंग शैली और प्रभावान्विति के आधार पर विन्यास अपने ढंग का अनुपम है और स्थानीय वातावरण के साथ तादात्म्य स्थापित करके रुद्र जी ने जिस आंचलिक प्रयोग की सृष्टि की है वह हिंदी उपन्यास के विकास में अभिनव योगदान है।"[2] नए उपन्यास की रेखाओं के साथ-साथ स्वरूप का सृजनात्मक आयाम भी यहां मिल जाता है। 'बहती गंगा' की सत्रह तरंगे स्वतंत्र होकर भी एक-दूसरे में गुत्थमगुत्थ हैं। वस्तुतः काशी के जीवन वैशिष्ट्य को प्रत्यक्षीकरण कराने के उद्देश्य की एकता और प्रभाव की संवेदना ही इन कहानियों का मूलाधार है।

यदि प्रयोगशीलता को लिया जाय तो प्रेमचंद ने पहली बार हिंदी में एक विस्तृत फ़लक पर कार्य-कारण शृंखला से युक्त सुव्यवस्थित और सुनियोजित कथा द्वारा जीवन को उसकी पूरी समग्रता और संपूर्णता में चित्रित किया। लगभग पूरे प्रेमचंद युग में यही विशेषता मिलती है। आगे चलकर 'शेखर : एक जीवनी', हिन्दी क्षेत्र में अलग तरह का उपन्यास आया। कम-से-कम भाषा के माले में 'अज्ञेय' बेजोड़ हैं। लीक से अलग इस

---

1. *डॉ. माधुरी खोसला, 'हिंदी के लघु उपन्यासों का शिल्प', पृ.-128*
2. *डॉ. सरोजनी त्रिपाठी, 'आधुनिक हिंदी उपन्यासों में वस्तु-विन्यास-ग्रंथम्, कानपुर, सं.-मई-1973 पृ.256*

उपन्यास को कई आलोचकों ने उपन्यास माना ही नहीं। लेखक स्वयं कहता है—"IT is a Precious Document' । वस्तु-गठन में फ़्लैश-बैक और खंड चित्रों की पद्धति का जो पहला प्रयोग गुलेरी जी ने 'उसने कहा था' में किया था उसे 'शेखर : एक जीवनी' में प्रौढ़ता और पूर्णता मिलती है। इसी क्रम में बाणभट्ट की आत्मकथा में द्विवेदी जी ने 'कथामुख' और 'उपसंहार' में दीदी की कहानी लिखकर बड़े कौशल से यह भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया है कि इस कथा का वक्ता स्वयं बाणभट्ट है। यद्यपि प्रथम पुरुष में या डायरी शैली में कथा कहने की परम्परा पुरानी है।

भारतीय अंचल का प्रतिनिधित्व करने वाला उपन्यास 'मैला आंचल' आज भी कसौटी है। यहां पूर्णिया जिले का छोटा-सा गांव मेरीगंज एक प्रतीक है। दरअसल रेणु और नागार्जुन को अपने प्रदेश से प्रगाढ़ परिचय और गहरा लगाव रहा है। इनकी भाषा आंचलिक रंग-ढंग में पूरी तरह ढल गई है, यही कारण है कि स्वाभाविकता इनकी पहली विशेषता रही है जिस तरह 'रुद्र' ने काशी के दो-सौ वर्षों का इतिहास रचनात्मक रूप में ढाल दिया है वैसे ही नागार्जुन ने 'बाबा बटेसरनाथ' में रूपउली ग्राम के एक सौ पचास वर्षों का इतिहास एक वट-वृक्ष के माध्यम से कह दिया है। इस तरह के अनोखे प्रयोगों से साहित्य कभी अछूता नहीं रहा है। इन उपन्यासों के अतिरिक्त कई लघु उपन्यास अपने छोटे कलेवर में एक नई भंगिमा के साथ प्रवेश करते हैं लेकिन उनकी स्थिति आज भी हाशिए पर है जैसे—'चांदनी के खंडहर' (गिरिधर गोपाल), 'सोया हुआ जल' (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) 'परन्तु' (प्रभाकर माचवे), 'परती परिकथा' (रेणु) आदि आदि।

इन कृतियों में परिवर्तित परिस्थितियों और नवीन जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए नए-नए शिल्प तलाशे गए हैं, जिनके द्वारा थोड़े ही वर्षों में हिंदी उपन्यास क्षेत्र में अभूतपूर्व वैविध्य दिखाई पड़ने लगा है।

अन्य साहित्यिक विधाओं की तरह उपन्यास शिल्प के अनुशासन से नहीं बंधा है। यहां कथा-प्रसार की कोई निश्चित परिपाटी नहीं है। पात्रों और परिच्छेदों की संख्या या आकार-प्रकार में भी यहां कुछ ख़ास रोक-टोक नहीं है। 'बहती गंगा' की कहानियां

जीवन की जिस नब्ज़ को पकड़ती है वहां भाषा और भाव स्वयं उसके अनुरूप ढले हुए हैं और उसी के अनुसार उपन्यास का आकार-प्रकार और अन्य तत्वों का विकास होता चला है। कह सकते हैं कि शिल्प में कसाव होकर भी लचीलापन है। इसी लचीलेपन के कारण काशी के ग्रामीण और कस्बाई जीवन को सही और अधिकतम रूप में व्यक्त करने का सफल प्रयास यहां हो पाया है। शायद इसी अभिव्यक्ति के लिए लेखक अनेक सहयोगी विधाओं को भी अपनाता चला है, क्योंकि 'बहती गंगा' में कहानी भी है, उपन्यास भी है और इतिहास भी है। 'रुद्र' ने लिखा है—"सन् 1750 से 1950 ई. अर्थात् दो सौ वर्षों की घटनाओं ने 'बहती गंगा' में प्रतिनिधित्व किया है। कथाक्रम के अनुरोधवश तिथियों का निर्वाह बड़ाई से नहीं हुआ है, परंतु घटनाएं प्रायः सब वहीं हैं।"[1] 'रुद्र' ने उपन्यास की बुनियाद इतिहास, जनश्रुति, प्रत्यक्ष ज्ञान और कल्पना सभी कुछ मिलाकर तैयार की है और उसे एक रचनात्मक कलेवर दिया है, इसलिए यह कहीं से इतिहास नहीं लगता है और न ही ऐतिहासिक उपन्यास। असल में सत्रह कहानियों में केवल सात कहानियां (क्रमशः 1, 2, 3, 4, 5, 8, 9) ही ऐतिहासिकता से जुड़ती हैं। कथा विकास के साथ-साथ उपन्यास ज्यों-ज्यों आधुनिक काल की ओर बढ़ता गया है त्यों-त्यों ऐतिहासिकता उससे दूर होती गई है। घटनाएं वास्तविक हैं लेकिन वास्तविकता ही ऐतिहासिकता नहीं। 'बहती गंगा' के संदर्भ में डॉ. रघुवंश लिखते हैं—"बहती गंगा का स्वर बहुत कुछ ऐतिहासिक जान पड़ता है, पर उसकी अपील सामाजिक है। इस बदलते हुए युग में जिन नए मूल्यों की ओर यहां संकेत है, वे सामाजिक-चेतना के प्रमाण हैं।"[2] डॉ. रघुवंश आगे इसकी आंचलिकता का उल्लेख करते हैं—"स्थानीय वातावरण के साथ गहरी संवेदना उत्पन्न करने में ही इस उपन्यास की सफलता रक्षित है।"[2] इसी तरह आ. सीताराम चतुर्वेदी इसे ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा देते हैं।"[3] प्रभाकर माचवे इसे 'आंचलिक या प्रादेशिक' उपन्यास कहते हैं।

अपने लघु रूप में काशी नगरी का मानवीय इतिहास लिखने का 'रुद्र' ने यह

---

1. *'रुद्र काशिकेय', 'बहती गंगा'—संदर्शिका' पृ.-15*
2. *डॉ. रघुवंश, आलोचना-सं.-8, पृ.-110*
3. *'बहती गंगा' 'परिचय', पृ.-6*

नायाब तरीक़ा ढूंढ़ा था। उपन्यास की सत्रह कहानियों में पूर्वापर संबंध का तालमेल है। इन कहानियों को तरंगें कहा गया है। सच ही है बहती गंगा में तरंगे ही हिलोरे लेंगी। तरंग-न्याय के अनुसार तरंगे अपने स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए धारा का निर्माण करती हैं और धारा को प्रवाहित कर आगे को बढ़ाती रहती हैं। तरंग के रूप में ये कहानियां काशी की परिवर्तनशील जन-जीवन की कथा कहती हैं, जिनका संयोजन भी लगभग काल-क्रमानुसार हुआ है। जिससे दो-सौ वर्षों का रचनात्मक इतिहास तैयार हो सके डॉ. रघुवंश लिखते हैं–"इन सभी कहानियों में अद्‌भुत संयोग है....विभिन्न अध्यायों का प्रभाव मन पर समवेत रूप में पड़ता जाता है, इस दृष्टि से उपन्यास में पूरा संगठन है।....जो कुछ प्रभाव एक अध्याय मन पर छोड़ता है, दूसरा अध्याय उसी की भूमिका पर आगे बढ़ जाता है।"[1] ऐतिहासिकता, सामाजिकता और आंचलिकता के त्रिवेणी संगम के साथ नवीन शिल्प से लहरें लेती तरंगे पाठकों को पूरी तरह सराबोर करती हैं। दिलचस्प बात तो यह है कि उपन्यास में न कोई नायक है और न ही नायिका। जो कुछ है सब काशी नगरी ही है। कह सकते हैं कि यहां काशी के सामाजिक-राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन चेतना का सगुम्फ़न रचनात्मक स्तर पर हुआ है। डॉ. त्रिभुवन सिंह भी लगभग डॉ. रघुवंश की ही हामी भरते हैं–"यह कथा-शिल्प की दृष्टि से हिंदी उपन्यास के लिए नवीन वस्तु है। 'बहती गंगा' के एक-एक शीर्षक में अलग-अलग कहानी का रूप है जो अपने आप में पूर्ण है पर वे समन्वित रूप में उपन्यास का बोध कराने में पूर्ण समर्थ है।"[2]

साहित्य और राजनीति का अलग-अलग होना अपने आस-पास के जन जीवन से कटाव को दर्शाता है। 'रुद्र' अपने उपन्यास में बेज़रूरत की राजनीति और भाषणबाज़ी को दरकिनार करके साहित्य की साहित्यिकता को बरक़रार रखने में सफल हुए हैं। उनके लगभग सभी पात्र सियासी हरकतों में शिरकत करते हैं। टुन्नु, दुलारी, रक़िया, सितारा, भिक्षुक और नागर जैसे अपढ़ नागरिक भी स्वतंत्रता संग्राम के सहभागी बने हैं। उन्हें

---

1. *डॉ. रघुवंश-'आलोचना', सं. 8 पृ.-108*
2. *डॉ. त्रिभुवन सिंह 'हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद'*

अपने-अपने स्तर पर ही सही लेकिन राजनीतिक परिवर्तनों की जानकारी है। सुधा शिक्षित युवती है जो तमाम तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग पर अंगुली उठाती है, और अपने तर्क से बुर्जुआ और प्रोलेतेरियत वर्ग को एक ही ज़मीन पर खड़ा करती है। इसी तरह कॉमरेड रघुवीर शरण का अपना अलग युवा संगठन है। कोई भी पात्र किसी का पिछलग्गू नहीं है।

'रुद्र' ने काशी को केंद्र बनाया, इसलिए नहीं कि उसे फिर से महिमा-मंडित किया जाय, बल्कि उसे पूरे ख़ूबियों-ख़ामियों के साथ पकड़ा जाय। काशी में हर युग के इतिहास-निर्माण में अपनी सहभागिता दर्ज़ की है। पूरे देश में अंग्रेज़ों के उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ चल रहे मुहिम में कुछ उपेक्षित शख़्सियतों को 'बहती गंगा' में रंग दिया गया है और उनकी सक्रियता को राष्ट्रीय धारा से जोड़कर उनके योगदान और महत्व को उकेरा गया है। ".....इसके पात्र (बहती गंगा) वास्तविक हैं, जो अपने वास्तविक जीवन में कल्पना को परास्त कर देने वाली घटनाओं की सृष्टि कर गए हैं"[1] ये पात्र तो थे पहले से ही; इन्हें हाशिए से केंद्र में लाने का काम रचनाकार ने किया है। नागार्जुन, रेणु और शिवप्रसाद सिंह जैसे रचनाकार मिथिला या ग़ाज़ीपुर जैसे पिछड़े अंचलों की तमाम समस्याओं को समाज के समक्ष प्रस्तुत कर और उस पूरे अंचल को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ कर एक बड़ा काम करते हैं। 'बहती गंगा' का रचनाकार यह नहीं करता। काशी जैसी नगरी को प्रकाश में लाने का कार्य रुद्र नहीं करते। हां, काशी में चल रहे तत्कालीन राष्ट्रीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय ज़रूर लिखते हैं। इसलिए हम इसे एकबारगी भी आंचलिक उपन्यास नहीं कह सकते। इसी क्रम में मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' भी आंचलिकता का पूरा पुट लिए हुए है लेकिन वह भी आंचलिक नहीं माना जा सकता। बुंदेलखंड के भूगोल पर केंद्रित यह उपन्यास वहां की आदिवासी जनता के साथ मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार और उड़ीसा बल्कि समूचे भारत के आदिवासी जीवन संघर्षों का प्रतिनिधित्व करती है। हाशिए के इन लोगों पर सामंती

---

1. *रुद्र काशिकेय, 'बहती गंगा', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-5-6*

शिकंजे और पूंजीवादी उत्पीड़न का जो दौर चला आ रहा था, उस उत्पीड़न के विरुद्ध उनका संघर्ष राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित होता है। किसी ज़माने में राणा प्रताप, पृथ्वीराज चौहान, झांसी की रानी, तात्या टोपे की सेना में ये वीर जातियां ख़ूब कमाल दिखाया करती थीं लेकिन कई बार पराजित होने के कारण इन्हें जंगलों, पहाड़ों, कछारों और रेगिस्तानों की ओर भागना पड़ा। ज़िन्दगी के व्याकरण ने इन्हें अपराधी बनने पर मजबूर किया। अब ये कोल-किरात, नर-बहेलिए और कबूतरा-कबूतरी के रूप में खेल-तमाशे दिखाकर, स्त्रियां अपना शरीर बेचकर और पुरुष तरह-तरह के अपराध कर अपना जीवन-यापन करने लगे हैं इस तरह यह उपन्यास राष्ट्रीय-स्तर पर बुना गया है। अंचल विशेष को लेकर हमारे यहां कई सफल उपन्यास लिखे गए है। लेकिन 1952 तक नगरों, उपनगरों और कस्बाई जीवन को लेकर लिखी गई चीज़ें कम थीं। डॉ. रश्मि बहल का मानना है –"अभी भी ऐसी औपन्यासिक कृतियां प्रकाश में नहीं आई हैं, जिसमें एक नगर विशेष का जीवन समग्र रूप में अपने निजी सामाजिक-सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के रूप में उभरकर आया हो।"[1] ऐसे वक्तव्यों का जवाब बेहतरीन ढंग से 'बहती गंगा' देती है और बहुत दूर तक इस अभाव की पूर्ति भी करती है।

जब हिंदी का आरंभिक उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' लिखा गया, तब पंडित गौरीदत्त ने मेरठ की बोलचाल वाली भाषा को चुना। तब परिनिष्ठित हिंदी का विकास नहीं हुआ था, इस लिए गौरीदत्त को भाषा संबंधी किसी ख़ास कश्मकश से नहीं गुज़रना पड़ा होगा। इसी तरह 'परीक्षा गुरु' के लिए लाला श्रीनिवासदास ने दिल्ली की खड़ी बोली को आज़माया। लेकिन जब मैथिली भाषी भुवनेश्वर मिश्र और भोजपुरी भाषी गोपालराम गहमरी ने अपने उपन्यास लिखने शुरू किए तो उनके सामने बड़ी समस्या यह थी कि उनके पात्र किस भाषा में सामने बोलें। भुवनेश्वर मिश्र अपने उपन्यासों के लिए परिनिष्ठित हिंदी ही लेते हैं लेकिन उनके उपन्यास की ग्रामीण जनता अपनी बोली का ही प्रयोग करती है। इसी तरह गहमरी जी के पात्र भोजपुरी का भी

---

1. *डॉ. रश्मि बहल–'फणीश्वरनाथ रेणु और सतीनाथ भादुड़ी के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन, सूर्य प्रका. दिल्ली, सं.-1992, पृ.-27*

खुलकर प्रयोग करते हैं। यह परम्परा संस्कृत नाटकों से ही चली आ रही है जहां अभिजात वर्ग और पुरुष पात्र संस्कृत और निम्न वर्ग और स्त्रियां प्राकृत का प्रयोग करती थीं, लेकिन हिंदी उपन्यास के सामने कई समस्याएं थीं और यह युग भी बिल्कुल अलग था। हिंदी उपन्यास एक ऐसी साहित्यिक विद्या के रूप में आया, जिसका विषय मुख्यतः औपनिवेशिक शासन का शोषण और दमन झेलता हुआ ग्रामीण और मध्यवर्गीय समाज था। हिंदी क्षेत्र का नगरवासी अपनी बोलचाल में परिनिष्ठित हिंदी का इस्तेमाल ज़रूर कर लेता था लेकिन ग्रामीण लोग चाहे वह किसी भी वर्ग को लें, अपनी बोली-बानी का ही प्रयोग करते थे। भोजपुरी भाषी प्रेमचंद ने अपने पात्रों से परिनिष्ठित हिंदी का ही प्रयोग करवाया लेकिन उन्होंने इतना ज़रूर कि अपने अपढ़-ग्रामीण जनता को विश्वसनीय और यथार्थ रूप देने के लिए उनकी ज़बान से 'श', 'ष' 'ऋ' आदि ध्वनियां ग़ायब कर दीं और मुहाबिरों, लोकोक्तियों और कहावतों को प्रमुखता दी। नागार्जुन के बारे में भी लगभग यही बात कही जा सकती है। द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कहीं-कहीं भोजपुरी शब्दों का पुट बांधा है इस दिशा में यदि किसी ने कोई बड़ा सर्जनात्मक जोखिम उठाया है, तो रेणु ने। 'मैला आंचल' में परिनिष्ठित हिंदी और मैथिली के साथ अपभ्रंश का इतना मिला जुला रूप है, कि कभी-कभी उपन्यास की बोधगम्यता बाधित भी होती है। फिर भी यह एक अनूठा और सफल प्रयोग रहा है। 'मैला आंचल' की भाषा के संदर्भ में नलिन विलोचन शर्मा लिखते हैं—''मैला आंचल' की भाषा से हिंदी भाषा समृद्ध हुई है।' इस बहस को जारी रखें तो 'बहती गंगा' की भाषा हमें कई कोणों से आश्वस्त करती है बल्कि 'बहती गंगा' अपनी भाव-भाषा को लेकर ही अलग मुकाम हासिल करती है। राज-परिवार में जहां हिंदी बोली जाती है वहीं बनारस की आम जनता काशिका या बनारसी बोली का प्रयोग करती है, और उपन्यास की बोधगम्यता भी बरक़रार रहती है। कुछ शब्द तो ठेठ बनारसी हैं जिनमें मिर्ज़ापुर, सुल्तानपुर और बनारस के आसपास की बोलियों का स्पर्श है, जैसे—देलेस, लेलेस, हौ, गयल, कहलन, रहलन आदि। अनपढ़ लोटन बहेलिया राजनीति

की बात अपनी ही बोली में करता है–"हाथी पर जीन कस दऽ अउर थोड़ा पर हउदा, जेम्में मालूम होय एक सहेबवा घबराय के भागल हौ। एतनै से बनारसिन के फिर जोस आइ जाइ। सुनऽ न गुरु लड़िकवा का चिल्लात हौवन। ओहर देख लबदन सहुआ आपन बाल-बच्चा केहले कहां जात हौ। ऐ सारे के हियां गदली तऽ बहवाय देहलेस कि धरै नाही हौवन।"[1] कहीं-कहीं लेखक शब्दों के सायास चुनाव और अलंकारों के मोह में पड़ जाता है। ऐसे स्थान पर भाषा अस्वाभाविक होकर खटकने लगती है–"लकड़ी आते देख लड़का छलका, फिर भी छोर धू जाने से छिलोर लग गई।"[2] इस मोह में नहीं पड़ने पर भी लेखक की भाषाई–विद्वता शायद कम नहीं पड़ती। ऐसे ही एक लंबी पंक्ति है जो बनावटी के साथ-साथ उबाऊ हो गई है–"गुलाबबाड़ी की गुलाबी महफ़िल में गुलाबी परिच्छेद और गुलाब के ही गहने पहनकर गुलशन, गुलबदन और गुलबहान ने अपने कोकिल-कंठ से वसंत राग में गलेबाज़ी का वह गुल खिलाया कि श्रोताओं की मंडली बुलबुल बन बैठी।"[3]

जिस तरह मिठास से काशी का नाता पुराना है वैसे ही गालियां भी काशी की बहुत अपनी हैं। भाषा में खिलंदड़ापन और बेलौसियत यहां की पुरानी परम्परा है, वह चाहे कबीर हो, रुद्र जी हों या फिर इस परम्परा को आज भी क़ायम रखने वाले कथाकार काशीनाथ सिंह हैं। जिस तरह बतकही भाषा में 'रुद्र' 1750 से 1950 की कथा कहते हैं उसी तरह काशीनाथ गल्प की विलक्षणताओं से लैस होकर आधुनिक काशी की कथा कहते हैं, वह भी अस्सी मुहल्ले में बैठकर। टनक भाषा और उसके भीतर खनकते अर्थ की गूंज के कारण कबीर आज भी कबीर है। काशी का जुलाहा, जिसने बिना मिलावट-बनावट के भाषा और भाव की चादर का ताना-बाना बुना है। काशीनाथ की भाषा भी उसी पांत की है। काशी की भाषाई परम्परा ऐसी ही है–"'कहन' और 'क़िस्सागोई' को कहानी में ले आने का काम काशीनाथ निधड़क करते हैं। गालियां

---

1. *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', 'बहती गंगा', राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ.-16*
2. *वही, पृ.-17*
3. *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' 'बहती गंगा', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-148*

भाषा-बोली में है, बतकही है बतखोरी में। काशी की संस्कृति यह नहीं कि गलियों को झाड़-पोंछकर पूजाघरों में रख दिया जाय। उनकी निपुणता इसी में है कि उनका गली-चौराहों पर जमकर उपयोग किया जाय।''[1] लेकिन काशी की संस्कृति केवल यही नहीं है इस संस्कृति की कहानी कहकर भी रुद्र काशी की भाषाई-परम्परा बरक़रार रखे हुए हैं इस तरह यथार्थ के नाम पर उनकी भाषा किसी भी रव में बहने से बच गई है। 'बहती गंगा' में नैतिक-सामाजिक-राजनीतिक सभी तरह के भ्रष्टाचार होते हैं, ग्रामीणों के झगड़े-झंझट भी हैं, अपढ़ फूहड़ स्त्रियों के वार्तालाप भी हैं, लेकिन यथार्थ के नाम पर भदेसपन का भद्दा रूप यहां दुर्लभ है। कुछ मर्यादित गालियां ज़रूर मिल जायेंगी—'मरकिनौना', 'बज्जर परै', 'कुक्कुर', 'निरबंसा', 'निगोड़ा', 'बनरघुड़की', 'तोहार कपार', 'जरतुहा' 'करिख पोतना' आदि। इस तरह यथार्थ के मोह में रचना की गुरुता नहीं खोई है। यूं काशीनाथ ख़ूब खुलकर लिखने वाले कलाकार हैं। यदि वह भाषा रूपी चदरिया को तार-तार करते हैं तो उसे तार-ब-तार बुनना भी उन्हें आता है। 'ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया' का इल्म काशी के जुलाहे को ही हो सकता है। कृत्रिमता का हामी न कबीर भरते हैं न रुद्र और न ही काशीनाथ सिंह।

'रुद्र' जो पूरे मन से लिखते हैं। उनकी अनुभव की तीखी भाषा है और उसकी अलग-अलग अर्थ-भंगिमाएं भी हैं। जब वह लिखते हैं—''गंगा उस भोली छोकरी का नाम है जिसने मुहल्ले वालों की आतों पर मचलना और निगाहों पर चलना स्वीकार नहीं किया था। जिसकी एक अपेक्षित चितवन के भिखारी मुहल्ले के बादशाह रायसाहब साधूराम से लेकर मुहल्ले के नौकर सिघुआ कहार तक थे। यदि रायसाहब उसे अपने कारखाने की मजबूरियों का मेठ बनाने को तैयार थे, तो सिघुआ भी उसे अपने हृदय की रानी बनाकर पूजना चाहता था। बूढ़े, जवान, जवानी की और पैर बढ़ाने वाले छोकरे और जवानी से विदा लेने को तैयार अधेड़ सभी 'गंगा-लाभ' करना चाहते थे।''[2] गंगा लाभ लिखकर लेखक ने भाषा के पाखंड को तोड़ दिया है। काशी की असलियत लिखनी

---

1. *हीरालाल नागर 'बहती गंगा' में नहाता 'काशी का अस्सी' सर्वनाम, 70, अप्रैल-मई-जून-03, पृ.-39*
2. *शिवप्रसाद मिश्र, 'रुद्र' 'बहती गंगा'—राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, पृ.-103*

है तो भाषा का छद्म तोड़ना ही था। वास्तव में 'बहती गंगा' और 'काशी का अस्सी' दोनों के घाट का पानी इन दोनों लेखकों के भाषा की तरह ही है—खरा, खांटी और खदबदाने वालो।

गंगा के प्रवाह में अक्षुण्णता है और सातत्व है इसी आधार पर लेखक 'बहती गंगा' को भी व्यापकता देता चला है। अपनी खुर्दबीनी भाषाई नज़र से 'रुद्र' जी हमें बनारस के गली-कूचों तक की सैर कराते हैं—चाहे वह गंगापुर हो, डोभी हो, कर्णघंटा हो, अलईपुर हो, ब्रह्मनाल हो, ज्ञानव्यापी हो, शिवाला हो, राजघाट हो, संकटमोचन हो, रामापुरा हो, अस्सी हो, दालमंडी हो, मछोदरी हो, आदिकेशव घाट हो या फिर बनारस के आसपास का मिर्ज़ापुर या चुनार हो। नागर अपनी प्रेमिका को मिर्ज़ापुर में ही रखता है और वहीं से उसे कुबरा मौलवी की क़ारिस्तानियों का पता चलता है। यहां तक कि लेखक यह भी बताता चला है कि तब काशी में कौन-कौन सी चीज़ें मशहूर थी। गोल-गप्पे, कचालू, जलेबी, कचौड़ी, भांग और ठंडई की सबसे लोकप्रिय और बेहतरीन दुकान कौन सी थी। उनमें से कुछ तो आज भी मिल जाएंगी। काशीनाथ सिंह भी 'पप्पू की दुकान' की चर्चा बराबर करते हैं।

'बहती गंगा' का रचनाकार काशी का बाशिंदा है। वह वहां के वन-उपवन, नाव-बजरे और कंकरो-पत्थरों सभी से गुज़रा है इसलिए वह कुछ छोड़ता नहीं है। काशी में ही डूबकर लिखता और सभी को दरकिनार कर काशी को ही उपन्यास का नायक/नायिका बनाता है। उपन्यास में नायक की अवधारणा महाकाव्य और नाटकों से आई है, लेकिन आज नायक की परम्परागत अवधारणा में काफ़ी बदलाव आ चुका है। पहले जहां नायक की धीरोदात्तता और अन्य गुणों को मान्यता प्राप्त थी वहीं अब साधारण व्यक्ति से लेकर स्त्रियां भी इस क्षेत्र में आ चुकी हैं। यह सही भी था क्योंकि यह अपने-अपने समय की मांग थी। इस काम की शुरुआत बहुत कुछ प्रेमचंद से होती है—"रंगभूमि' और 'गोदान' में अत्यंत साधारण स्तर के पात्र उपन्यास के केन्द्र में आए तथा 'ग़बन' और 'कर्मभूमि' में एक साथ एकाधिक पात्रों ने केन्द्रीयता प्राप्त की। रेणु हिंदी के पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने उपन्यास से नायक को लगभग निष्कासित कर

1. *गोपाल राय—'उपन्यास की पहचान' 'मैला आंचल' अनुपम प्रका. प्र. सं.-2000, पृ.-11-12*

दिया और उसके स्थान पूरे एक गांव को ही बिठा दिया।"[1]

यदि देखा जाय तो यह निष्कासन 1952 में 'बहती गंगा' में ही हो जाता है। इस परम्परा को खारिज करने की भूमिका वहीं से बनती है। शायद ऐसी ही कुछेक विशेषताओं के कारण सत्यपाल युघ 'मैला आंचल' की बजाय 'बहती गंगा' को पहला आंचलिक उपन्यास मानते हैं। इस तरह के कुछ पूर्ववर्ती उपन्यासों में शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' (1926) भी है जिसमें भोजपुर अंचल प्रमुख है। यहां भोजपुर की सांस्कृतिक और भाषिक विरासत निखर कर आई है। फिर भी रेणु ने पूर्णिया के एक छोटे से गांव मेरीगंज को सामाजिक-आर्थिक-शैक्षिक और राजनैतिक दृष्टि से पिछड़े अंचल का प्रतीक बनाकर पूरे अंचल को उसकी समग्रता और संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। इसी ढर्रे पर आगे भी कई उपन्यास आए जिनमें कुछ तो पुनरावृत्ति ही लगते हैं। विवेकी राय, शैलेश मटियानी, मनोहर श्याम जोशी, मैत्रेयी पुष्पा, रामदरश मिश्र, भगवान दास मोरवाल, प्रभा खेतान आदि ऐसे ही उपन्यासकार हैं। ऐसे करतब की बहुत हद तक पकड़ 'बहती गंगा' में मिलती है और 'बहती गंगा' 'मैला आंचल' की पुनरावृत्ति भी नहीं है क्योंकि वह 'मैला आंचल' की पूर्ववर्ती रचना है।

आश्चर्य है, ऐसे उपन्यास की ओर विद्वानों और बुद्धिजीवी आलोचकों का रुख़ देर से हुआ, बल्कि हुआ ही नहीं। उपन्यास संबंधी कुछ पुस्तकों में 'बहती गंगा' की औपचारिकतावश एक हल्की चर्चा भर मिल जायेगी। लगभग एक ही ढर्रे की—"उपन्यास में ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों की गाथा, अंग्रेज़ों के अत्याचार और उसके विरुद्ध काशी की वीर जनता की प्रतिक्रिया, उसकी घर फूंक मस्ती हृदय की कोमलता और साहस चित्रित है।"[1] ऐसे 'मोनोटोनस' से उद्धरण हमें हर जगह जड़े हुए मिल जायेंगे। डॉ. त्रिभुवन सिंह उपन्यास कुछ अलग देखते हैं तो 'पौरुष के संदेश की ध्वनि'[2] सुनते हैं वह भी जाने किस तरह का?

आंचलिक न होकर भी उपन्यास में लोक का स्पर्श प्रमुख हो गया है। चूंकि

---

1. *आलोचना; 36 विशेषांक-4, अप्रैल-1966 पृ.-73*
2. *डॉ. त्रिभुवन सिंह—'उपन्यास और यथार्थवाद' पृ.-357*

बनारस संगीत और लोक संगीत का गढ़ रहा है इसलिए लेखक इस क्षेत्र को क्योंकर छोड़ देता? 'बहती गंगा' की कहानियों के शीर्षक प्रसिद्ध कजरी, चैती, लावनी या किसी प्रसिद्ध गीत-ग़ज़ल के मुखड़ों से तैयार हुए हैं। 'गाइए गणपति जगबंदन' पंक्ति तुलसी ने जब लिखी होगी तब सचमुच उन्हें यह भान नहीं होगा कि यह पंक्ति किसी राज-परिवार के कलह का कारण भी बन सकती है। इसी तरह 'नागर नैया जाला कालापनियां', 'ऐहिं ठैयां झुलनी हेरानी हो रामा' 'ऐहि पार गंगा ओहि पार जमुना जैसी पंक्तियां प्रसिद्ध पंक्तियों में से एक है। लेखक इन्हें यूं ही नहीं चुनता बल्कि इन पंक्तियों में कहानी का पूरा निचोड़ ढूंढ़कर उन्हें शीर्षक के रूप में रखता है। यही नहीं कहानियों के बीच में भी लोकगीतों, लोक-कथाओं यहां तक कि शेरों-शाइरी का भी अच्छा प्रयोग मिलता है। सबसे बड़ी बात है इनके प्रयोग में कहीं भी अस्वाभाविकता या मिलावट-बनावट की गुंजाइश नहीं मिलती। पढ़ते-पढ़ते हमें यहां स्मृत्यावलोकन, काल-विपर्यय और फ़्लैश-बैक के अलग-अलग रूप मिलते चलते हैं। लेखक ने हर तरह का प्रयोग उपन्यास में किया है, फिर भी बोझिलता और कृत्रिमता यहां नहीं के बराबर है। ऐतिहासिक उपन्यास में उपन्यासकार विगत और वर्तमान जीवन के मध्य सम्पर्क स्थापित करके उसे आज के साथ संदर्भ के रूप में रखता है ताकि इतिहास शव नही बल्कि समूची मानवता के लिए शिव हो जाय। 'बहती गंगा' में भी काशी का जनजीवन और इतिहास कुतूहल और दर्शनीय मात्र न होकर मानव-जीवन की गतिशील और अविच्छिन्न परम्परा के रूप में आया है। लेखक ने यदि इतिहास या काशी के ऐतिहासिक जनजीवन को चुना है तो इसलिए कि उससे मानव-स्वरूप का विश्लेषण, उसका समाज और मानवता के लिए संघर्ष और उनमें निहित मनोवैज्ञानिक और संवेदनात्मक तत्वों को रचनात्मकता और नई अर्थ-भंगिमा का रंग-ढंग दिया जा सके।

...अंतिका

वाराणसी और गंगा अभिन्न है। गंगा ने जैसा छबीला पैंतरा वाराणसी में भरा है वैसा और कहीं नहीं। इसलिए काशी की कहानी कहने के लिए शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' 'बहती गंगा' को ही चुनते हैं। कबीर, तुलसी, भारतेंदु, प्रसाद, प्रेमचंद, रत्नाकर, लाला भगवानदीन रामचंद शुक्ल, संपूर्णानंद और बेढब बनारसी जैसे विद्वानों की परम्परा में आने वाले रुद्र 'बहती गंगा' को जिस रूप में पेश करते हैं, वह हिंदी साहित्य में मिसाल है। प्रेमचंद के बाद से कथा-साहित्य में जो ठहराव आया, 'बहती गंगा' के माध्यम से रुद्र जी ने उस सन्नाटे को तोड़ा है। दरअसल 1911 में जब रुद्र का जन्म होता है, उसी समय और समाज ने हिंदी साहित्य के पुरोधा व्यक्तित्वों को जन्म दिया। इसी तरह 1952 का समय भी महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाओं का समय रहा है। 'बहती गंगा' के लेखक को उसके समाज और समय के बहुत कड़ुवे अनुभव दिए। इस उद्वेलन का प्रतिफलन ही 'बहती गंगा' के रूप में आया है।

रुद्र जी काशी के असल सपूत थे। काशी को छोड़कर जाना उनके लिए बहुत कठिन था, इसलिए उन्हीं अपने लोगों के बीच रहकर-जीकर और उन्हीं में रच-बसकर लिखना उनकर उद्देश्य बन गया था। जिस काशी की मस्ती और उसका रंग भरा जीवन हमारी सांस्कृतिक धरोहर है उसी मस्ती और जीवन का यथार्थ-चित्रण रुद्र जी के यहां मिलता है।

रुद्र जी काशी के इतिहास के बहुत महीन जानकारों में से एक थे। यह सच है कि बहुत अधिक अध्ययन की प्रवृत्ति और लिखने में आलस्य की प्रवृत्ति ने हमें रुद्र जी की इस विद्वता से वंचित रखा है, लेकिन इस विद्वता का अंदाजा हम 'बहती गंगा' से लगा सकते हैं। इस ऐतिहासिक रचना में जिस साहित्यिक एवं संवेदनात्मक संप्रेषणीयता का रंग-ढंग है उसके बरअक़्स बहुत सी प्रयोगवादी कृतियां बौनी नज़र आती हैं।

यह सर्वविदित है अपनी परंपरा, संस्कृति, धर्म और विद्या को लेकर बनारस आज भी समूचे विश्व में जाना जाता है, यही कारण है कि सिस्टर निवेदिता ने इसे हिंदुओं की

कैण्टरबरी ही नहीं, ऑक्सफ़ोर्ड भी माना है। पुराणों में काशी का नाम पूरे आदर और पवित्रता के साथ आया है। यही नहीं मथुरा, कांची और अवंतिका जैसी सप्तपुरियों में काशी का नाम पहले आता है। बौद्ध और जैन धर्म का केंद्र तो यह थी ही। इसका सबसे अच्छा उदाहरण सारनाथ है, जहां गौतम बुद्ध ने अपनी पहली शिक्षा दी और यहीं से बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार आरंभ किया।

मध्यकालीन काशी की स्थिति डावांडोल रही है। हालत यह थी कि हिंदू और मुसलमान सभी रचनाकारों और इतिहासकारों ने किल्लत और जहालत की चर्चा ज़रूर की है। धर्म और संस्कृति के अलावा काशी सामरिक-व्यापारिक दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण रही है इसीलिए राजाओं और सुल्तानों की निगाह इस पर सदैव रही, जिसका ख़ामियाजा यहां की गंवई और निर्दोष जनता को उठाना पड़ा। आगे चलकर इतिहास ने कई करवटें लीं लेकिन काशी की स्थिति बहुत कुछ ज्यों-की-त्यों बनी रही। काशी में मंदिर-विध्वंस की चर्चा खूब है लेकिन इस ज्यों की त्यों वाली स्थिति ने काशी में आज भी मंदिरों की संख्या कम नहीं होने दी है, इसलिए इसे 'मंदिरों का शहर' भी कहा गया। आधुनिक काल तक आते-आते काशी की जनता ने जिस तरह अंग्रेज़ों और बाहरी शक्तियों का सामना किया, वह आश्चर्य करने वाली है। इसी काशी में 'बंग भंग' और 'ग़दर' जैसे आंदोलनों की पृष्ठभूमि बनती है जो आगे स्वतंत्रता-आंदोलन' के रूप में तब्दील हो जाता है। इस आंदोलन में स्त्री और पुरुष सभी सहभागी बनते हैं।

काशी के इतिहास से हाशिए के कुछ शख़्सियत रुद्र चुनते हैं और उन्हें 'बहती गंगा' में फिर से जीवित कर देते हैं। इन पात्रों में जिस तरह प्रेम की लौ लगी हुई है उससे भी ज़्यादा तेज़ मशाल इन्होंने गुलामी की बेड़ियों को निकाल फेंकने के लिए जलाई है। अपने इस जुनून के लिए उन्हें किसी तरह की शिक्षा-दीक्षा और सियासी दाव-पेंचों की ज़रूरत नहीं है। उपन्यास के सारे पात्र गंवई-संस्कृति में रचे-बसे हैं। ये पात्र असल में प्रेमी जीव हैं, लेकिन इन्हें पता है कि दिल से ज़्यादा कीमती जान है, इसलिए इनका प्रेम बहुत प्रौढ़ लगता है। फ़ैज के शब्दों में कहें तो –"अब मैं दिल

बेचता हूं और जान ख़रीदता हूं'' वाली स्थिति है।

ब्रिटिश औपनिवेशिकता के साथ भारत की अंदरुनी सामंती शक्तियां यहां के लोगों के जीवन में उथल-पुथल मचाए हुए थीं। बाहरी और भीतरी दोनों सामंती हाथ खुले रूप में एक दूसरे के सहभागी थे। ऐसे में यहां की जनता ने संघर्ष का रास्ता चुना। युवाओं का एक बड़ा तपका 'सच्चे युवा' के रूप में आया। तत्कालीन काशी में लोग उन्हें 'गुण्डा' कहते थे। इन युवाओं के लिए प्रेम 'कुछ है' 'सब कुछ' नहीं।

'बहती गंगा' अपने प्रयोग और भाषा-भाव को लेकर 1952 की अनूठी कृति के रूप में सामने आती है। जाने कितनी ही कृतियां प्रयोग के नाम पर चर्चित हो रही हैं लेकिन इस महत्वपूर्ण रचना को एक खांचे से दूसरे खांचे में बिठाने की खींचातानी करके छोड़ दिया गया एक गंवई, और कस्बाई जीवन के इतिहास को रचनात्मकता में ढालना और उसे आज के संदर्भ में प्रासंगिक बना देना महत्वपूर्ण काम है। आंचलिक और मुहाविरेदार भाषा का संतुलित और संयमित रूप यहां मिलता है और इससे उपन्यास के सार्वदेशिक अपील में कोई बाधा भी नहीं होती। जहां तक भाव-पक्ष और देश के प्रमुख राजनीतिक परिवर्तनों का संबंध है, यह रचना अपने बिंदु रूप में आंचलिक-सामाजिक होते हुए भी अपने विस्तृत फलक पर राष्ट्र के विगत दौ सौ वर्षों की परिवर्तमान चेतना को प्रतिबिंबित करती है। काशी की सभ्यता, संस्कृति और ठेठ बोली-बानी के ठाठ के दर्शन यहां बखूबी होते हैं।

ग्रंथानुक्रमणिका
आधार ग्रंथ
संदर्भ ग्रंथ
पत्र-पत्रिकाएं

ग्रंथानुक्रमणिका

आधार ग्रंथ

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' — बहती गंगा
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1999

संदर्भ ग्रंथ

अमर प्रसाद गणेश प्रसाद जायसवाल — हिंदी लघु उपन्यास
विद्या विहार, कानपुर
प्रथम संस्करण-1984

एन. रवीन्द्रनाथ — मार्क्सवाद और हिंदी उपन्यास
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1979

अतुलवीर अरोड़ा — आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास
पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब
प्रथम संस्करण-1974

ए. आर देसाइ — रुरल सोशियोलॉजी इन इंडिया
एशिया पब्लिशिंग हाउस, बॉम्बे
1948

एंटोनियो ग्रेमसी — सेलेक्शन फ्रॉम द प्रिजन नोट-बुक्स
न्यूयॉर्क-1979

कुसुम वार्ष्णेय — हिंदी उपन्यासों में नायक
शोध साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण-1973

गिरिधर प्रसाद शर्मा — हिंदी उपन्यासों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन
इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली
संस्करण-1978

संपा-गोबिंद प्रसाद — त्रिलोचन के बारे में
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1994

चार्ल्स एच. हिमसेथ — इंडियन नेशनलिज़्म एंड सोशल रिफॉर्म
प्रिस्टन यूनिवर्सिटी-1964

चंद्रकांत बांदिवडेकर — आधुनिक हिंदी उपन्यास
सृजन और आलोचना
नेशनल पब्लिशिंग हाए
प्रथम संस्करण-1985

जैनेंद्र कुमार — साहित्य का श्रेय और प्रेय
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
संस्करण-1991

संपा-जैनेंद्र कुमार — तेईस हिंदी कहानियां
लोकभारती प्रकाशन, इलाबाद
प्रथम संस्करण-1997

दिनेश्वर प्रसाद — लोक साहित्य और संस्कृति
जयभारती प्रकाशन, इलाबाद
द्वितीय संस्करण-1989

संपा-धीरेन्द्र वर्मा — हिंदी साहित्य कोश (भाग-1 एवं 2)
ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी
तृतीय संस्करण-1985

पवन कुमार वर्मा — भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1999

संपा-परमानंद श्रीवास्तव — समकालीन हिंदी कविता
साहित्य अकादमी, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1990

पीताम्बर सरोदे — आधुनिक हिंदी उपन्यासों में राजनैतिक एवं आर्थिक चेतना
अतुल प्रकाशन, कानपुर
प्रथम संस्करण-1987

संपा-प्रदीप सक्सेना — इतिहास का सच और सच का इतिहास
उद्‌भावना प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-2003

प्रेमचंद — साहित्य का उद्देश्य
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
संस्करण-1983

बच्चन सिंह — हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-2000

बद्रीनारायण — लोक संस्कृति में राष्ट्रवाद
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1996

संपा-बिंदु अग्रवाल — उर्वर प्रदेश
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
संस्करण-2000

भगीरथ बड़ोले — स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास में मानव मूल्य और उपलब्धियां
स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण-1983

भरत यायावर — रेणु रचनावली-4
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1995

मैनेजर पाण्डेय — अनभै सांचा
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्लल
प्रथम संस्करण-20002

मैनेजर पाण्डेय — साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़
प्रथम संस्करण-1989

मैनेजर पाण्डेय — साहित्य और इतिहास दृष्टि
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
द्वितीय संस्करण-2000

मैनेजर पाण्डेय — भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
संस्करण-तृतीय-2001

मोतीचंद — काशी का इतिहास
हिंदी ग्रंथ रत्नाकर-बम्बई
प्रथम संस्करण-1962

मोहन राकेश — साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1975

मधुरेश — हिंदी उपन्यास का विकास
सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण-1998

संपा-मनोहरलाल — गुलेरी रचनावली-1
किताब घर, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1991

रामचंद्र शुक्ल — हिंदी साहित्य का इतिहास
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
तीसवां संस्करण-संवत्-2052 वि.

रामदरश मिश्र – हिंदी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
संस्करण-1995

राधा कुमार – स्त्री-संघर्ष का इतिहास
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-2002

संपा-रामदरश मिश्र एवं ज्ञानचंद गुप्त – हिंदी के आंचलिक उपन्यास
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1984

रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ग्यारहवां
संस्करण-1999

रैल्फ़ फ़ॉक्स – उपन्यास और लोकजीवन
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
संस्करण-तीसरा-1980

विश्वनाथ त्रिपाठी – हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
एन. सी. ई. आर. टी. दिल्ली

वसुधा डालमिया – दी नेशनलाइज़ेशन ऑफ हिंदू ट्रेडीशन्स
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एण्ड नाइन्टींथ सेंचुरी बनारस
ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी-1997

श्यामाचरण दुबे – समय और संस्कृति
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-2000

शशिभूषण पांडेय 'शीतांशु' – शिवप्रसाद सिंह
स्रष्टा और सृष्टि
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1995

सुमित्रा त्यागी — हिंदी उपन्यास : आधुनिक विचारधाराएं
साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-1978

सुधाकर पांडेय — स्मृति गंगा
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-2003

ए. के. कडवे — हिंदी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति
अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर
प्रथम संस्करण-1978

हजारी प्रसाद द्विवेदी — हिंदी साहित्य की भूमिका
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
संस्करण-1998

हजारी प्रसाद द्विवेदी — कबीर
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
आठवीं आवृत्ति-2000

त्रिभुवन सिंह — हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद

पत्र-पत्रिकाएं

उद्‌भावना—प्रेमचंद विशेषांक-अक्टूबर-2003
काशी समाचार-अक्टूबर-1941-वाराणसी
कथादेश-सितम्बर-2001-नई दिल्ली
गांडीव (दैनिक)-वाराणसी
तद्‌भव-अप्रैल-2003, लखनऊ
सन्मार्ग-वाराणसी विशेषांक, 1986-वाराणसी
समयांतर—अक्टूबर, 2003, नई दिल्ली
हंस—काशी अंक
नया ज्ञानोदय—अप्रैल-2004-नई दिल्ली